द्वितीय अध्याय : हिंदी में स्त्री-कविता की परंपरा

द्वितीय अध्याय : हिंदी में स्त्री -कविता की परंपरा

i. हिंदी कविता में स्त्री-चिंतन :

हिंदी कविता अपने उद्भव के साथ ही स्त्री-संवेदना के राग को लेकर बढ़ती है। साहित्येतिहास की परंपरा में भाषा एवं साहित्य-चिंतन का विकास मानवीय चिंतन व चेतना का विकास भी रहा है। संस्कृत, पालि, प्राकृत हो या अपभ्रंश-अवहट्ठ, खड़ीबोली हिंदी आदि सभी भाषाओं के साहित्य की केन्द्रीय धुरी मानवीय अर्थवत्ता को ही प्रतिपादित करना रहा है। कालखंड की विभिन्न धाराओं में भी साहित्य-चिंतन की गतिमान धारा ने मानवीय इतिहास की तलस्पर्शी सच्चाइयों को अपनी नब्ज़ में लिया है। स्त्री-पुरुष संबंधों की बारीकियाँ, प्रेम व परंपरा का द्वंद्व तथा सम्मान व समानता आदि में निरंतर होने वाले परिवर्तनों ने साहित्येतिहास के चिंतन को सदैव प्रभावित किया। आधुनिकता का उफान तथा नयी औद्योगिक विकास नीतियों ने मानवता को नए संदर्भ में परिभाषित किया। वैज्ञानिक खोजों व उपलब्धियों ने हजारों वर्षों से चली आ रही मिथ को चुनौती देकर एक नयी दुनिया की आहट को स्थापित किया। विकास के इन प्रकरणों ने स्त्री संवर्ग को सबसे अधिक प्रभावित किया है और अब भी कर रहे हैं। ऐसा माना भी जाता है कि "मानव सभ्यता का विकास स्त्री-जाति की पराधीनता का इतिहास भी है।"[1] इस पराधीनता ने स्त्री-जाति के इतिहास को, उनकी चिंतनधारा को कालकोठरी में हमेशा के लिए दफ्न कर दिया है। इतिहास ने भले ही उन कलमशिल्पियों को स्थान न दिया हो, पर उसे झुठलाया न जा सका। प्रत्येक युग में उनकी सृजनशीलता को देखा जा सकता है। इसके साथ ही पुरुष रचनाकारों द्वारा स्त्री संबंधी चिंतन के विभिन्न रूपों की शिनाख़्त ; हिंदी कविता की परंपरा में स्त्री-चिंतन का मुख्यतः काल के परिप्रेक्ष्य में देखना एवं काल परिवर्तन के साथ उसके स्वरूप परिवर्तन को जानना; साहित्येतिहास की परंपरा में स्त्री की रचनाशीलता को समझना है।

आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों की कविताओं में स्त्री संबंधी चिंतन स्त्री-संसार के किसी एक पक्ष पर ही जोर देता है। जबकि इन सभी कालों में स्त्री-कवियों का चिंतन प्रक्षालन की भूमिका में दिखता है। आदिकालीन कविताओं (सिद्ध, नाथ, जैन) में स्त्री-देह के भोग-उपभोग अथवा त्याग की गाथाएं वर्णित हैं। अधिकांश रचनाओं में स्त्री के नायिका, गणिका अथवा गृहस्थ धर्म में संलग्न रूप को ही दिखाया गया, महिमामंडित किया गया। भक्तिकाल में स्त्री स्वर की कई अनुगूंजें सुनाई देती हैं। संत कवियों के साथ बाहर निकली नारी संत कवियों ने अखिल भारतीय स्तर पर अपनी काव्य-सर्जना से समाज व सभी तरह की सत्ताओं को चुनौती दिया है : "उन्होंने घर छोड़ दिये, अकेली हों गई पर झुकी नहीं। पुरुष संत जो प्रायः समाज के निम्न, दलित, उपेक्षित वर्ग से आते हैं, उन्हीं के संग साथ में रहकर भी नारी संतों ने भगवान को अपनी, अपने वर्ग की, आप बीती सुनाई, मुक्ति की गुहार भी लगाई। भगवान को उलाहने भी दिए कि कैसे मनुष्यों की दुनिया में उसने उन्हें धकेल दिया।"[2] दक्षिण की अंदाल-अक्कमहादेवी हो, उत्तर की मीरा या कश्मीर की लल्द्यद आदि सभी ने राज सत्ता, धर्म सत्ता और पुरुष सत्ता की नीतियों पर कुठाराघात किया। रीतिकालीन कविता सबसे अधिक पुरुष शुद्धतावादी आलोचना की शिकार हुई। आज भी इन संदर्भों को नए पाठ और नयी दृष्टि से देखने की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

आधुनिक युग के वैश्विक संदर्भ ने हिंदी साहित्येतिहास की चिंतन प्रणाली को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया। साहित्य-संस्कृति के साथ ही सामाजिक-राजनैतिक अवधारणाओं में तेजी से मानवता के नवीन मूल्यों को आत्मसात किया गया। हिंदी में गद्य विधा अभिव्यक्ति की एक मजबूत आधारशिला बनी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, शैक्षिक संस्थान तथा सामाजिक संस्थाओं ने पूरे भारतीय जनमानस में एक नयी स्फूर्ति ला दी। स्त्री-शिक्षा पर जोर तथा उनकी सामाजिक-राजनैतिक भागीदारी के साथ-साथ उनके अधिकारों की

चर्चा ने जोर पकड़ी। आधुनिक युग की विभिन्न काव्यधाराओं में स्त्री-चिंतन के सूत्र को स्त्री दृष्टि से ही परखा जा सकता है।

भारतेन्दु युग

"सन् 1930 के आसपास महिला रचनाकारों की एक पूरी-की-पूरी पीढ़ी पूरे उत्साह के साथ रचनाक्रम में जुटी हुई थी। उनकी रचनधर्मिता केवल कागज और कलम तक सीमित नहीं थी। उसमें साहित्यिक समारोहों में भाग लेना, पत्रिकाओं का सम्पादन, महिला और राजनीतिक संगठनों से जुड़ना तथा अपनी तरह से नवजागरण का हिस्सा बनना शामिल था अपनी-अपनी क्षमता और संकल्प के अनुसार। उस रचनात्मकता की सबसे बड़ी विशेषता थी कथनी और करनी में एकता।"[3] कवयित्री, इतिहासकार और आलोचक सुमन राजे का यह कथन आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री रचनाशीलता का संदर्भ भी है और पृष्ठभूमि भी। आधुनिककाल व नवजागरण के पितामह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का रचना-कर्म और उनके मंडल के लेखकों द्वारा नवीन विषय क्षेत्रों में काव्य-लेखन एक नयी धारा का सूत्रपात था। हालांकि काव्यखंड का अधिकांश क्षेत्र अब भी राधा-कृष्ण के प्रेम-शृंगार-विहार आदि तक ही सीमित था। आधुनिकता की लौ जितनी गद्य विधाओं में देखने को मिलती है उसकी आधी भी पद्य में न आ सकी। भाषा और विचारधारा के इस संक्रमणकालीन दौर में एक भाव जो सबसे ऊंचे स्वर में गूंज रही थी वह - राष्ट्रीय भावना थी। सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक गुलामी के साथ ही धार्मिक कुरीतियों, अमानुषिक नीतियों आदि से लड़ने-भिड़ने के लिए भारतेन्दु युग के लेखकों ने एक पृष्ठभूमि जरूर तैयार किया। इसी समय परिवार-समाज में स्त्री-दुर्दशा पर खुलकर बातें हुईं। नवजागरण की चेतना ने स्त्री-वर्ग को देहरी से पार कर संसार की रणभूमि में स्वयं को सिद्ध करने का अवसर दिया। स्त्री-शिक्षा एवं उनके सामाजिक सुधार हेतु कई संगठनों-संस्थाओं (आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि) के साथ ही स्त्री-केन्द्रित पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ हुआ। भारतेन्दु द्वारा 1874 में प्रकाशित 'बालाबोधिनी' हिंदी की पहली पत्रिका है जो

स्त्री-शिक्षा के लिए समर्पित थी। उक्त काल में भी स्त्री-शिक्षा के समर्थक शिक्षित स्त्री को अंततः देवी, श्रद्धा, पूजनीय आदि रूप में ही संचालित होते देखना चाहते थे। प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहन सिंह आदि की कविताओं में स्त्री की छवि देवी रूप की ही है। दूसरी ओर ; समाज सुधारक राजराममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द आदि चिंतकों ने समाज में स्त्री के जीवन को अलग से नोटिस लिया। राष्ट्रवाद और नवजागरण की लहर में स्त्री-व्यक्तित्व के मानवी रूप ने राष्ट्र को और स्वयं को एक नयी पहचान से विभूषित किया।

धार्मिक-सांस्कृतिक आंदोलनों ने स्त्री-समुदाय की समस्याओं, उनकी शैक्षिक-सामाजिक आधार को प्रमुखता से केंद्र में लाकर एक नए युग का सूत्रपात किया। बाल-विवाह निषेध, विधवा पुनर्विवाह, दहेज प्रथा उन्मूलन या स्त्री-हिंसा संबंधी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने की मांग आदि ने स्त्री-जीवन को एक सकारात्मक दिशा प्रदान किया। स्वतंत्रता-संघर्ष में स्त्रियों का योगदान इसकी पार्श्वभूमि बना चुका था। स्त्रियों के इस सचेत संकल्प ने 1857 की क्रांति में भी अपना योग दिया था। भारत के लगभग सभी क्षेत्रों से स्त्री-स्वर की एक महीन गूंज सुनाई दे रही थी। अवध की बेगम हजरतमहल और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई इतिहास में वर्णित वे स्त्री शक्तियाँ हैं जिनके बगैर इतिहास अधूरा है। कुमुदनी मित्तर स्वयं पत्रिका भी निकालती थीं और लेखों के माध्यम से राष्ट्रीय जागरण का कार्य करती रहीं। रवीन्द्रनाथ टैगोर की भतीजी सरला देवी 'भारती' पत्रिका के माध्यम से स्त्री-सुधार के स्वर को मुखरित कर रही थीं। राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान की चर्चा करते हुए सुमन राजे लिखती हैं, "'भारती' पत्रिका के माध्यम से उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भी प्रयास किए। विवाह के बाद भी उनका कार्यक्षेत्र पंजाब हो गया, जहां उन्होंने भारती-स्त्री-महामंडल की स्थापना की। इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न जाति की स्त्रियों में एकता स्थापित करना था। बाद में महात्मा गांधी से जुड़ीं और अंत तक सक्रिय रहीं।"[4]

आधुनिक चेतना के उत्थान काल में भी स्त्री-कवियों की परंपरा दिखती है, हालांकि उन्हें साहित्येतिहास में स्थान नहीं मिला। 'स्त्री-कविता कौमुदी' और 'हिंदी काव्य की कोकिलाएं' जैसी पुस्तकें आने के पश्चात उन पर चर्चा अवश्य हुई। 'बाकांवती', 'ब्रजदासी', 'सुंदर कुँवरि बाई', 'प्रताप कुँवरि बाई' तथा 'बुंदेलबाला' आदि उक्त काल की चर्चित कवयित्रियां रही हैं। इनकी कविताओं का स्वर भक्ति व शृंगार ही था। इसका मुख्य कारण था, इनका वर्ग विशेष –'रानी-कवि-वर्ग'। रनिवासों में रहकर इन्होंने अपने उद्गारों को बहुतायत से प्रकट किया। रचना की प्रचुरता के बावजूद भी इतिहासकार की नज़र इन पर नहीं पड़ी। बुन्देलबाला, स्वर्गीय लाला भगवानदीन की पत्नी थीं। आचार्य शुक्ल उन पर तो अपना मंतव्य प्रकट करते हैं लेकिन 'बुन्देलबाला' का नाम तक नहीं लेते। इस प्रकरण और इतिहास की 'सुभीते' प्रणाली पर आपत्ति करते हुए सुमन राजे लिखती हैं : "...स्वर्गीय लाला भगवानदीन (ज.स. 1923- मृ. 1983) की पुरानी और नयी धारा की कविताओं पर लगभग दो पृष्ठ खर्च करने के बाद भी 'बुन्देलबाला' की ओर, जो उनकी पत्नी और हिंदी की नयी धारा की ऊर्जस्विनी कवयित्री हैं, उन्होंने दृष्टिपात तक नहीं किया।"[5]

द्विवेदी युग :

द्विवेदी युग तक आते-आते सांस्कृतिक चेतना एवं पुनर्जागरण की मेधा ने लगभग सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता की नींव को मजबूत किया। साहित्यकार स्वतंत्रता सेनानी की नयी भूमिका में दिखें। स्त्री हो या पुरुष समाज के सभी वर्गों ने अपनी हिस्सेदारी से स्वतंत्रता के मूल्य को अर्जित किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव तथा 'सरस्वती' पत्रिका ने हिंदी जगत की व्यापक राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक संवेगों को नवीन चेतना से स्फूर्त किया। भाषा, भाव और विषय-वस्तु की नवीनता के साथ समाज के पिछड़े एवं उपेक्षित समुदायों पर गहनता से विचार किया गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दर्जनों लेख के माध्यम से स्त्री की सामाजिक स्थिति

पर टिप्पणी की है। रूढ़िवादी परंपराओं का निषेध तथा स्त्री-शिक्षा की वकालत उन्होंने भी की। इसके लिए उन्होंने कई कवियों को स्त्री-केन्द्रित रचनाएं लिखने के लिए प्रेरित भी किया। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा', 'साकेत', 'द्वापर' आदि रचनाएं इसकी साक्षी हैं। द्विवेदी जी ने स्वयं ही 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख लिखकर कवियों को एक बड़ा क्षेत्र सौंपा। द्विवेदी जी का स्त्री संबंधी यह चिंतन तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में क्रांतिकारी कदम था। द्विवेदी युग के 'एकांतवासी योगी' श्रीधर पाठक भी स्त्री-शिक्षा प्रचार, विधवा-वेदना आदि को लेकर कविताएं की है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी के 'प्रिय प्रवास' की नायिका भी अब वियोगिनी आदि न होकर एक समाज सुधारक व जनसेवक रूप में उभरती दिखती है। यह समाज में स्त्री की दशा में सुधार का ही परिणाम था। मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर' आदि प्रबंधकाव्यों में भी स्त्री-चिंतन के बीज मिलते हैं वे स्त्री के सामाजिक सुधार के ही सूचक है।

द्विवेदी मंडल के बाहर के कवियों में रायदेवी प्रसाद पूर्ण, नाथुराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, लाला भगवानदीन, रूपनारायण पाण्डेय तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि कवियों में भी स्त्री से संबंधित जागरूकता का भाव निहित था। इनमें कुछ कवि आर्यसमाजी थे अतः आर्यसमाजी मूल्यों का प्रभाव इनकी कविताओं पर खूब पड़ा है। नाथूराम शंकर शर्मा की रचना 'गर्भरंडा रहस्य' ऐसी ही एक रचना है जिसमें विधवाओं के साथ देव मंदिरों में होनेवाले कुकृत्यों का वर्णन है। बतर्ज आचार्य रामचन्द्र शुक्ल "'गर्भरंडा रहस्य' नामक एक बड़ा प्रबंधकाव्य उन्होंने विधवाओं की बुरी परिस्थिति और देवमंदिरों के अनाचार आदि दिखाने के उद्देश्य से लिखा है।"[6] नाथुराम शर्मा जी का कवित्व सुधारवादी होने के साथ-साथ क्रांतिकारी भी था। धर्म, आस्था, पाखंड तथा धार्मिक कर्मकांड आदि के नाम पर स्त्रियों का शोषण तथा उन्हें दास बनाने की सभी प्रथाओं की उन्होंने खुलकर आलोचना की। रामनरेश त्रिपाठी द्वारा ग्राम गीतों का संकलन तथा उनकी 'कविता कौमुदी' में निहित स्त्री-कविता की

मौजूदगी, स्त्री रचनाशीलता के प्रति उनकी संवेदनशीलता को दर्शाती है। 'कविता कौमुदी' में कई स्त्री-कवियों को स्थान दिया गया है।

द्विवेदी युग में स्त्री रचनाधर्मिता पूरी तरह सक्रिय दिखती है। स्वतंत्रता-संघर्ष में बढ़ती महिलाओं की भागीदारी अब स्वतंत्रता-संघर्ष की लौ को और भी तेजोदीप्त कर रही थी। "1900 ई. से लेकर 1925 ई. तक हमें कवयित्रियों के कई स्वर सुनाई पड़ते हैं। हाँ, यह कहना आवश्यक है, बदले हुए रचनाकेन्द्रों के साथ। राजघरानों में कविता अभी भी हो रही है, परन्तु वह लगभग सूख गई धारा है। कविता अब मध्यवर्ग से भी जुड़ने लगी है और राष्ट्रीय स्वर उसका प्रधान स्वर है। 'हिन्दी काव्य की कोकिलाएं' के लेखक द्वय ने नयी धारा की प्रथम कवयित्री राजरानी देवी (सं. 1927 अर्थात 1870 ई.) को माना है।"[7] राजरानी देवी, तोरण देवी शुक्ल 'लली', गुजराती बाई 'बुन्देलबाला', गोपाल देवी आदि कवयित्रियों ने राष्ट्रीय भावना के साथ ही नारी जागरण के संदर्भ को जोड़ कर अपनी रचनात्मकता व दूरदर्शिता को प्रतिस्थापित किया। भक्ति, शृंगार के रास्ते राष्ट्रीयता तत्पश्चात अपनी आत्माभिव्यक्ति का यह सफर स्त्री-लेखन व स्त्री-कविता का एक सविनय मृदु और धवल परिप्रेक्ष्य है जिससे साहित्येतिहास की अवधारणा में एक नया अध्याय जुड़ता है। जैसे ममत्व के आँचल तले शिशु का क्रमबद्ध विकास होता है, वैसे स्त्री-रचनाशीलता ने अपनी सृजनात्मक चेतना को विकसित किया है।

छायावाद युग :

"सन् 1916 में सरोजिनी नायडू का उदय हुआ। वे दक्षिण अफ्रीका एवं कनाडा भी गयीं, जहां उन्होंने स्वतंत्रता की अलख जगाई। विजय लक्ष्मी पंडित भी स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ने के बाद स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक बराबर सक्रिय रहीं। ये तो कुछ नाम हैं जो इतिहास में मिल जाते हैं, खास बात तो यह कि निचली सतहों पर भी स्त्री-शक्ति संगठित हुई और उसने पुरजोर संघर्ष किया।"[8] सुमन राजे के इस कथन को छायावादी कविता के पृष्ठभूमि के तौर पर देखा

जाना चाहिए। परिवार, समाज से बाहर निकली स्त्रियाँ जब शिक्षित और अपने कर्तव्यों को जानती-समझती हैं तो राष्ट्र की मूल संकल्पना को पूर्णता प्रदान करती हैं और इसी अर्थ में वह मानवी एवं 'श्रद्धा' कहलाती हैं। स्वतंत्रता-संघर्ष में लेखन और आंदोलन, दोनों ही स्तरों पर स्त्री-रचनाकारों ने योग दिया। महादेवी वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान आदि रचनाकार राष्ट्रीय काव्यधारा की वे हस्तियाँ हैं जो स्त्रीत्व की गरिमा को महीयसी (larger than life) का रूप देती हैं। महादेवी वर्मा तथा सुभद्रा कुमारी चौहान का स्त्री-संबंधी चिंतन आधुनिक होने के साथ ही वैश्विक भी है। महादेवी जी की प्रारम्भिक कविताएं राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं। उनके कई गीत ('मत बाँधों', 'अग्नि-स्तवन', 'पूछो न प्रात की बात', 'अश्रु यह पानी नहीं है', 'देशगीत-1,2,3.', 'ध्वजगीत-1,2' आदि) तो प्रभात फेरियों में गाए जाते थे। 'शृंखला की कड़ियाँ' के विचारोत्तेजक निबंधों में भारतीय समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक रूढ़ियों में जकड़ी स्त्री की छवि एवं पुरुषवादी सामाजिक नीतियां जो स्त्रियों पर लादी जाती हैं, उसकी खुलकर आलोचना हुई है। पहली बार महादेवी वर्मा साहित्य की मुख्यधारा में बतौर स्त्री रचनाकार के रूप में मुखरता से आती हैं। पुरुषों के बीच एक स्त्री रचनाकार का नाम आना ही सामंती समाज में बड़ी जीत थी।

छायावादी दौर स्वतंत्रता-संघर्ष के समानान्तर वैचारिक संघर्ष का भी दौर था। वैचारिक स्तर पर भी लेखकों, समाज सुधारकों तथा नेताओं के साथ आम जनता में एक उद्वेलन की भावधारा प्रवाहित हो रही थी। छायावादी वैयक्तिकता की भावना व अस्मिता की खोज और अभिव्यक्ति इसी वैचारिक उद्वेलन का हिस्सा था। वर्षों पुरानी स्त्री की छवि को 'देवी माँ सहचरी प्राण' की संज्ञा देना नवजागरण की चेतना से ही प्रस्फुटित भाव था। "कविता में नारी-संबंधी दृष्टिकोण में यह जो परिवर्तन हुआ, वह आकस्मिक नहीं है। उन्नीसवीं सदी में जो सुधार-आंदोलन आरंभ हुआ था, वह बीसवीं सदी का प्रथम पाद समाप्त होते-होते बहुत ज़ोर पकड़ गया। नारी-शिक्षा में बड़ी तेजी से प्रगति हुई। सरकारी आँकड़ों के अनुसार, 1900 में शिक्षा-

ग्रहण करनेवाली लड़कियों की संख्या जहां लगभग चार लाख थी, वहाँ 1925 में यह संख्या उसकी तिगुनी अर्थात बारह लाख तीस हजार छः सौ अट्ठानबे हो गई और 1935 तक जाते-जाते सात गुनी से भी ज्यादा हो गई।"[9] प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी प्रभृति रचनाकारों ने एकबारगी में ही स्त्री-व्यक्तित्व को 'श्रद्धा' व 'मानवी' का आसन नहीं दिया, बल्कि उस युग की चेतना तथा वैश्विक आभामंडल का निरंतर प्रभाव भारतीय बौद्धिक चेतना पर पड़ रहा था जो उन्हें आत्मावलोकन की सकारात्मक दिशा प्रदान कर रही थी। राष्ट्रीय आंदोलन ने स्त्री की छवि को प्राचीन सामंती मर्यादाओं से अलग करके देखा। सामंतशाही और पितृसत्तात्मकता की जड़ें अब भी मजबूत थीं लेकिन आधुनिक शिक्षा का प्रभाव, प्रेस का आगमन और राष्ट्रीय जागरण के मूल्यों ने स्त्री-रचनाशीलता और महिला-लेखन के लिए एक रास्ता जरूर खोल दिया। स्त्री विमर्श का एक अलाव बीजरूप में ही प्रज्ज्वलित हो चुका था। सामाजिक-राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी व हिस्सेदारी समाज में महिलाओं की अवस्थिति को तेजी से बदल रही थी। राष्ट्रीय आंदोलन के तले यह कार्य द्रुतगति से शुरू हुआ। महात्मा गांधी के सत्याग्रह, नमक आंदोलन आदि मोर्चों पर महिलाओं की अहम भूमिका रही है।

सम्पूर्ण छायावादी काव्य स्त्री-चिंतन के लिहाज से इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है कि पहली बार उसने स्त्री के आत्मगत भाव सौन्दर्य के साथ उन्हें एक मानवी का आसन दिया ; उसे शक्तिस्वरूपा के रूप में प्रतिष्ठित किया। स्त्री-अस्मिता की सत्ता को स्थापित किया। दूसरी ओर "सामंती रूढ़ियों से नारी को मुक्त करके भी छायावादी कवि ने राष्ट्रीय आंदोलन में सहयोग दिया। तिरस्कृता विधवा को 'इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी' पवित्र कहना, भोग्य नारी 'संग में पावन गंगा-स्नान' की कल्पना करना और उसे 'देवी, माँ, सहचरी, प्राण' कहकर पुकार उठना आदि बातें आधुनिक कवि के नारी आदर्श की सूचक हैं। छायावादी कवि ने नारी को अपमान के पंक और वासना के पर्यंक से उठाकर देवी और सहचरी के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया।"[10] यह अति श्रद्धा और देवी का भाव ही छायावादी कविता की सीमा बन गई। इस सीमा

का निदर्शन हम उस समय के गांधीवादी दर्शन में भी पाते हैं। बावजूद इसके इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि छायावादी कवियों ने स्त्री-चिंतन को नयी दिशा दी और गहराई भी। इस सीमा की पूर्ति तत्कालीन स्त्री-लेखन में ही मिलती है। महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि के लेखन ने स्त्री-स्वाधीनता व नारी-मुक्ति के सवालों को अलग दृष्टिकोण से व्याख्यायित-विश्लेषित किया है।

प्रगतिवाद युग :

प्रगतिवादी युग की पृष्ठभूमि 1930 से ही बनने लगी थी। 1936 ई. में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना तथा प्रेमचंद के अध्यक्षीय उद्बोधन ने साहित्यकारों को प्रगतिशील साहित्य अथवा विचार को अपनाने और उसे प्रसारित करने के लिए अभिप्रेरित किया। साहित्य में प्रगतिवाद का वैचारिक आधार मार्क्सवादी विचारधारा बना। प्रगतिशीलता से सीधा आशय था छायावादी कल्पना व अति भावुकता के स्थान पर वास्तविक यथार्थ तथा वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता को प्रश्रय देना। कविता के क्षेत्र में यह काम छायावादी कवियों ने भी किया और प्रगतिवादी कवियों ने तो इसकी आधारशिला और भी मजबूत की। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', त्रिलोचन तथा रांगेय राघव से लेकर रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि प्रगतिवादी कवियों ने कविता में जिस सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ का रेखांकन किया वह तत्कालीन समाज की मांग थी। कविता में पहली बार श्रमजीवी किसान, मजदूर तथा हाशिए के समाज की नंग-धड़ंग सच्चाई की पेशकश हुई। पहली बार जनतांत्रिक मूल्यों के आधार पर मानवतावाद को परिभाषित किया गया। कवियों की श्रमजीवी समाज के प्रति यह सहानुभूति साहित्य में नयी चीज़ थी। किसानों, मजदूरों, स्त्रियों आदि का अपने अधिकारों के लिए संघर्ष ने नए तरह से मानवतावाद को जागृत किया। प्रकृति और मानव को देखने की सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवादी कविता की मूल विशेषता है।

स्त्री चेतना एवं स्त्री-चिंतन की दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों में एक निस्तरंग भाव दिखता है। प्रेम और आदर्श की विधायिनी स्त्री का रूप एक ओर क्रांति के लिए प्रेरणा था तो दूसरी ओर क्रांति व संघर्ष में हिस्सा लेती स्त्री का रूप प्रगतिवादी कवियों को अपने जनपदीय बोध से जोड़े रखा। केदारनाथ अग्रवाल की 'वीरांगना', 'धीरे उठाओ मेरी पालकी', 'मुक्त युवती', 'अमृता शेरगिल के चित्र को देखकर', 'मजदूरिन', नागार्जुन की 'कालिदास सच-सच बतलाना', 'गुलाबी चूड़ियां', त्रिलोचन की 'चित्रा जाम्बोरकर', 'चम्पा काले काले अच्छर नहीं चीन्हती', 'नगई महरा', 'आरर डाल', 'परदेसी के नाम पत्र' आदि, शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'मेरा देश जल रहा है, कोई नहीं बुझानेवाला', 'जेल में आती तुम्हारी याद', 'फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन' आदि तथा राष्ट्रकवि दिनकर की 'उर्वशी', 'रेणुका', 'रश्मीरथी' आदि, कविताएं स्त्री-चिंतन के लिहाज से एक नए पाठ की मांग करती हैं। स्त्री के प्रेम व आदर्श का खुला और स्वस्थ भाव प्रगतिशील कवियों ने अपनाया। माया, छलना, कामुकता से इतर एक मानवी रूप प्रगतिशील कवियों ने अपनी कविताओं में स्थापित किया है। केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में स्त्री-चिंतन राष्ट्रप्रेम व सामाजिक-राजनैतिक तानेबाने की घटनाओं-प्रतिघटनाओं में ही लिपटकर मुखरित हुआ है।

नागार्जुन की 'फ़ुलनदेवी', 'फुलनकथा', 'भूमिजा', 'पाषाणी', 'शूर्पणखा', 'जया', 'सिन्दूर तिलकित भाल' तथा 'जयति नखनिरंजनी' आदि कविताओं में निहित स्त्री-चिंतन सामाजिक होने के साथ ही भारतीय सांस्कृतिक चेतना से पूरित है। स्त्री पात्र चाहे वह लोक जीवन से उठाए हों या मिथकीय संसार से, आदि सभी में उनकी एक पैनी दृष्टि सन्निहित है। 'भूमिजा' की सीता हो या 'पाषाणी' की अहिल्या हो अथवा समाज के जीवंत संघर्षरत पात्र 'फ़ुलनदेवी', 'मायावती', और 'इंदिरा गांधी' आदि सभी के आलोचना-प्रत्यालोचना का आधार मानवीय मूल्य ही रहे हैं। जनता के पक्षधर जनकवि नागार्जुन जहां एक ओर सत्ता में निरंकुश हो चुकी इंदिरा गाँधी की रणनीतियों की खरी आलोचना करते हैं वही दूसरी ओर अपनी

अस्मिता और अधिकार के लिए सशस्त्र संघर्ष करनेवाली स्त्री 'फ़ुलनदेवी' की 'फुलनकथा' को क्रांति की संज्ञा से अभिहित करते हैं। दरअसल नागार्जुन की प्रखर राजनीतिक दृष्टि समाज में दलित-शोषित जन की पक्षधरता को कविता में तरजीह देती है। 'फ़ुलनदेवी' की हुंकार पर नागार्जुन का काव्यात्मक स्वर देखते ही बनता है : "कौन सामना कर सकता है! / दाएँ-बाएँ बीसों को डंडा करती हैं / कारतूसों की मालाओं से हमने उनको पहचाना था / मैनपुरी के एक गाँव में ठाकुर के घर डटी हुई थी फूलन देवी / लगता था, हाँ, सिंहवासिनी / प्रकट हुई है / मैनपुरी के एक गाँव में।"[11] मिथकीय पात्रों में सीता, अहिल्या तथा शूर्पणखा आदि के साथ हुए सामाजिक अन्याय तथाकथित ईश्वरीय न्याय की खरी आलोचना नागार्जुन ने बेधड़क रूप से किया है। 'भूमिजा' में सीता का राम तथा रामराज्य के प्रति उद्बोधन उस पूरी पितृसत्तात्मक रामराज्य में स्त्री की अवस्थिति पर सवाल खड़े करते हैं।

प्रगतिवादी कवि त्रिलोचन की 'चम्पा' 'चित्रा जाम्बोरकर', 'आरर डाल' की पात्र अपनी पत्नी आदि से जो संवाद करती हैं वह स्त्रियों के प्रति उनके दृष्टिकोण को दर्शाता है। अवध के इस 'किसान कवि' ने भारतीय ग्रामीण स्त्रियों के एक अलग स्वरूप को कविता में गढ़ा है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' के क्रांतिपरक गीतों-कविताओं में ओजपूर्ण भाव से पूँजीवादी-शोषक समाज को चुनौती दी गई। स्त्री-पुरुष, बड़े-बूढ़े-बच्चे आदि सभी देशहित, समाजहित में अपनी कुर्बानी को, अपने इतिहास के बलिदानों को भूलना नहीं चाहते हैं। जाति-धर्म आदि के नाम पर असमानता, शोषण, भ्रष्टाचार तथा असामाजिक तत्वों की विवेकहीनता पर कवि जबर्दस्त तंज़ कसता हैं। 'मेरा देश जल रहा है, कोई नहीं बुझानेवाला' में माँ उस बच्चे को जन्म देने पर पश्चाताप करती हैं जो बड़ा होकर उपद्रवी और सांप्रदायिकता के खूनी खेल में शामिल है। इसी तरह 'जेल में आती तुम्हारी याद', 'फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन' आदि कविताओं में कवि ने स्त्री के प्रेरणा स्वरूप को दिखाया है। राष्ट्रकवि दिनकर का काव्य-संसार स्त्री-चिंतन से अछूता नहीं रहा है। उनकी 'रस्वन्ती', 'मानवती', 'रेणुका' संग्रह की 'राजरानी' कविता,

'उर्वशी' ('उर्वशी' में रंभा, मेनका, सहजकन्या, चित्रलेखा आदि स्त्री पात्रों के संवाद), 'रश्मीरथी' आदि कविताओं में स्त्री पुरुष-सत्ता के सम्मुख परमसत्ता के रूप में अधिष्ठित होती है। यहाँ प्रेमिका, पत्नी, गृहिणी तथा त्यागमयी स्वरूप की पारंपरिक छवि के रूप में कवि ने नारी-संबंधी अपने दृष्टिकोणों का परिचय दिया है।

प्रयोगवाद और नयी कविता :

छायावाद काव्यांदोलन के बाद जिस एक काव्य प्रवृत्ति की हिंदी काव्य परंपरा में सबसे अधिक चर्चा होती है, वह प्रयोगवाद ही है। प्रयोगवाद की चर्चा व स्थापना का आधार प्रथम तारसप्तक (1943) से होने लगा तथा दूसरे सप्तक (1951) तक यह पूरी तरह स्थापित हो चुका था। अज्ञेय इस काव्यांदोलन के अगुआ बने। हालांकि प्रयोगवाद व सप्तक के सभी कवि प्रयोगवादी नहीं थे। मध्यवर्गीय जनता का उदय व स्वतंत्रता-संघर्ष की सफलता के संक्रमण काल में प्रयोगवादी कवियों ने सामाजिक तानेबाने व परिवर्तन से अधिक व्यक्ति के भीतर होने वाले मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तथा मनःस्थितियों की तह तक पहुँचने व उसे अभिव्यक्त करने के दुर्गम पथ को चुना। इसी क्रम में प्रयोग उनका साधन बना। रूप-विधान तथा वस्तु-शिल्प में प्रयोग तथा कविता के जरिए व्यक्ति के भीतर के सत्य को कविता का सत्य बनाना, प्रयोगवादी कवियों का उद्देश्य रहा है।

अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि प्रयोगधर्मी कवियों ने मध्यवर्गीय जनजीवन के नग्न-यथार्थ को उसी नग्नता में निरूपित करने का प्रयास किया है। मध्यवर्गीय दीनता, हीनता, घुटन, निराशा, आत्म-विशृंखलता तथा अहम आवेष्टित व्यक्तित्व, द्वंद्व आदि को अतिशय बौद्धिकता से प्रस्तुत करना तथा शैली व शिल्प का नवीन प्रयोग स्वयं प्रयोगवादी कवियों के लिए एक नयी राह बनी। यथार्थ चित्रण की अतिशयता एवं अति बौद्धिक दृष्टि के

अभ्यस्त प्रयोगवादी कवियों ने स्त्री की काव्यात्मक तथा सामाजिक छवि को भी अत्यंत यथार्थ-भीरु रूप देते हुए अपनी कुंठा, दमित-वासना आदि को खुलकर अभिव्यक्त किया। स्त्री का रूप सौंदर्य आदि के प्रति दृष्टिकोण यहाँ भी परिवर्तन के साथ पुरुषोचित वासनायुक्त ही रहा। छायावादी कवियों ने जहां स्त्री के सौन्दर्य को ऊंचा आसन दिया था वही प्रयोगवादी कवियों ने उन्हें अपने धरातल पर ला खड़ा किया। आलोचक नामवर सिंह लिखते हैं : "छायावादी कवि प्रायः प्रकृति की मोहक पृष्ठभूमि में अथवा सुंदर प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से नारी की छाया-प्रतिमा निर्मित करते रहे; लेकिन प्रयोगवादी कवि ने यहाँ भी अप्सरामयी नारी को स्वप्न-स्थित गरिमामय पद से उतारते हुए सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया और इस नारी-सौन्दर्य के उपमान की स्वभावतः पदच्युत हो गए।... ... प्रकृति और नारी के प्रति प्रयोगवाद की यह आरंभिक दृष्टिकोण यथार्थ के नाम पर वस्तुतः नग्न यथार्थवाद अथवा 'नैचुरलिज्म' है।"[12]

प्रकृति और नारी का जो आत्मिक संबंध अब तक बना चला आ रहा था उसे प्रयोगवादी कवियों ने विशेषतः अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती सरीखे कवियों ने निरा वैयक्तिकता के रूपक में बांधने का प्रयास किया। हरे-भरे घास हो या बादल या वसंत का आगमन आदि सभी स्थलों पर नारी का स्मरण अपनी वासना की तृप्ति के लिए होता है। 'सावन-मेघ' कविता में बादल को देखकर अज्ञेय कह उठते हैं : "आह, मेरा श्वास है उत्तप्त - / धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार - / प्यार है, अभिशप्त / तुम कहाँ हो नारी?"[13]

नारी के प्रति प्रेम अथवा श्रद्धा का जो रूपक छायावादियों ने स्थापित किया था और प्रगतिवादी कवियों ने कमोबेश उसे अधिक शक्तिस्वरूपा का रूप दिया था वही प्रयोगवादी कवियों ने अति बौद्धिकता और मुखरता के आग्रह में आसक्त होकर नारी को वासना की प्रतिमूर्ति में बदल दिया। यही नहीं पूर्ववर्ती नारी के प्रति उपमान भी एक झटके में बदले जाने लगे। अब वह चाँदनी, श्रद्धा, शक्तिस्वरूपा आदि न रहकर 'बिछली घास' और 'लहलहाती हवा में कलगी बाजरे की' आदि के रूप में उपमित की जाने लगी। कवि का प्रेम भी इसी नवीन

अभिव्यक्ति का परिचायक है। इस नवीन उपमान और अभिव्यक्ति में प्रेम की भावुकता कम और बौद्धिकता अधिक दिखती है। बतर्ज नामवर सिंह "प्रयोगवादी कवि में यह बौद्धिकता आरोपित नहीं है; बल्कि सामाजिक दबाव का सहज परिणाम है। छायावादी कवि ने सामाजिक भय से अपने मानवीय प्रेम को रहस्यात्मक जामा पहनाया तो प्रयोगवादी कवि ने उसे बौद्धिकता के आवरण में रखा ; लोग जो आरोप करते हैं उसे स्वयं ही कहकर कवि ने लोगों को अपनी साहसिकता और निर्भीकता से जैसे हतप्रभ कर दिया।"[14] कविता में इस साहसिकता और निर्भीकता को लगभग सभी कवियों (पूर्ववर्ती कवियों ने भी) ने अलग-अलग रूपों व संदर्भों में व्यंजित किया। गिरिजाकुमार माथुर की कविता हो या प्रभाकर माचवे आदि की प्रयोगवादी कविताएं जिनमें स्त्री प्रेरणा अथवा नए प्रतीकों के रूप में आती हैं वहाँ नारी के विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं।

मुक्तिबोध और भारतभूषण अग्रवाल की कविताओं में जो स्त्री का नैरेटिव्स बनता है वह तत्कालीन सामाजिक वर्ग वैशिष्ट्य का ही द्योतक है। 'अँधेरे में' कविता में प्रेम गहनतम अंतस्तलों को स्पर्श करता हुआ काव्य नायक को शक्ति देता है, संघर्ष के लिए प्रेरणा देता है। 'अँधेरे में' कविता का यह पक्ष अब भी अँधेरे में है। स्त्री का विभिन्न रूपों में आगमन-निगमन 'अँधेरे में' कविता को एक अलग महीन तंतुओं से बाँधे रखता है। भारतभूषण अग्रवाल की 'उतना वह सूरज है' की कुछ कविताएं ('ये मुलाकातें', 'मिलन', 'चलते-चलते', 'विदा बेला', 'परिणति') जेंडर के प्रति उनकी चिंता को ज़ाहिर करती हैं। कवि ने अपनी स्मृतियों में संचित भाव को स्त्री के रूपक के रूप में चित्रित किया है। स्त्री यहाँ भी प्रेम के आलंबन रूप का ही निर्वाह करती है। कवि उसे एक पारंपरिक आदर्श रूप में ही देखते हैं। दूसरे सप्तक के चर्चित कवि शमशेर बहादुर सिंह की कविताएं प्रयोगधर्मी होने के साथ ही शिल्प के स्तर पर असाधारण जान पड़ती है। टेकनीक अथवा शिल्प में एजरा पाउण्ड को अपना आदर्श मानने वाले शमशेर ने अपनी कविताओं को कलात्मकता व चित्रात्मकता प्रदान करने में कोई कसर नहीं छोड़ा। 'न

पलटना उधर', 'चुका भी हूँ नहीं मैं', 'एक पीली शाम', 'आईने की तरह साफ', 'समय साम्यवादी' आदि कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य बेहिसाब रूप में बिखरे पड़े हैं। प्रेम और सौन्दर्य के कवि कहे जाने वाले शमशेर का स्त्री-चिंतन व चित्रण कोमल लिहाफ में लिपटा मुलायम और मांसल है। प्रेम की उन्मुक्त उड़ान में वह मांसलता का भी रूप लेता है और सहज सुंदरता का भी- "जहाँ उसने अपना सर रखा था तुम्हारे वक्ष पर वह स्थान बहुत ही मुक़द्दस है।"[15] या "तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।"[16] अतः प्रेम और सौंदर्य के सांचे में गढ़ी स्त्री की छवि भी कलात्मक रूप में ही मिलती है। शमशेर एक द्रष्टा की भांति ही स्त्री-शरीर के रूप को कविता में बुनते हैं। कवि की इसी विशिष्टता को लक्ष्य करके नामवर सिंह ने लिखा है, "कभी-कभी ऐसा लगता है कि नारी-शरीर भी शमशेर के लिए जैसे एक कलाकृति है –अपने रूपाकार मात्र के लिए आकर्षक।"[17] नयी कविता के कवियों में शमशेर इन्हीं कलात्मकता और चित्रात्मकता की मौलिकता के लिए जाने गए।

नयी कविता के दुर्धुर्ष कवि रघुवीर सहाय उन गिने-चुने कवियों में से एक हैं जिन्होंने स्त्री व्यक्तित्व के आत्मतत्व की, उसकी अपनी अस्मिता की तथा पितृसत्तात्मक समाज में बार-बार छली जाने पर भी अपनी जिजीविषा की ललक को बनाए रखने वाली स्त्री के चित्र को अपनी कविताओं में स्थान दिया है। इस अर्थ में रघुवीर सहाय की स्त्री-चिंतन संबंधी कविताएं उल्लेखनीय हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' तथा 'हँसो-हँसो जल्दी हँसो' की कुछ कविताओं में स्त्री के यथार्थ छवि को लोकतंत्र के बरअक्स रखकर कवि ने समय और सत्ता की भयावहता को दिखाया है। उनकी कविताओं में आती-जाती स्त्री अपने समय की खुरदुरी सच्चइयों के साथ आती है और सत्ता-व्यवस्था द्वारा प्रदत्त भीषणता का बोध करा जाती है। विश्वनाथप्रसाद तिवारी लिखते हैं, "रघुवीर सहाय की कविताओं में जो 'स्त्री' और 'लड़की' आती है वह छायावादी कविताओं की नारी से भिन्न है। छायावादी काव्य की नारी अलौकिक रूपसम्पन्न थी। उसमें उल्लास था, प्रेम था। उसमें आशा थी, भावुकता थी। कहीं से कोई दुख नहीं था उसमें सिवाय

एक विरह-व्यथा के। साठोत्तरी कविता के अनेक तथाकथित आंदोलनों के रूप में जो कविता आई उसमें भी 'स्त्री' आती है पर वह बड़ी बदनसीब है। वह विशेष रूप से यौन-कुंठाओं की अभिव्यक्ति के लिए लाई गई है। यह बड़ा आश्चर्यजनक और दुखद सत्य है कि हिन्दी कवियों ने पुरुष के जीवन का आर्थिक संघर्ष तो देखा पर उन्हें स्त्री के जीवन का यह पक्ष नहीं दिखा। वे उसके प्रति केवल अपनी अतृप्त वासना को बाहर निकालते रहे। इस संदर्भ में रघुवीर सहाय की कविता में जो स्त्री आती है उसे देखकर राहत मिलती है। वह सुंदर नहीं है, वह विरह में मछली की तरह तड़प नहीं रही है, वह संभोग की एक गुड़िया नहीं है....।"[18] प्रत्युतः वह एक : "मरती-खपती सच्चाई है।

वह खड़ी थी / दुबली और थकी हुई / और मुझे लगा कि वह खड़ी रहेगी / क्योंकि ऐसे ही वह पूर्ण होती है"[19]

"दौड़े जाते हैं डरे लदेफंदे भारतीय / रेलगाड़ी की तरफ़ / थकी हुई औरत के बड़े दाँत / बाहर गिरते हैं उसकी बची-खुची शक्ति"[20]

"बच्चा गोद में लिए / चलती बस में / चढ़ती स्त्री"[21]

"एक औरत, दो बच्चे, एक गोद एक पैदल / पता पूछती रहती है प्रधान मंत्री का / दस बरस बेदख़ल हुए उसे हुए पाँच अधपागल"[22]

"कितनी सचमुच है यह स्त्री / कि एक बार इसके सारे बदन का एक व्यक्ति बन गया है / उसके बाल अब घने काले नहीं / ... ...वह उदास नहीं, डरी हुई है अधेड़ है औरत है / ... ... वह जवानी में बहुत कष्ट उठा चुकी है / अब वह थोड़े-थोड़े लगातार स्नेह के बदले / एक पुरुष के आगे झुककर चलने को तैयार हो चुकी है / वह कुछ निर्दय पुरुषों को जानती है जिन्हें / उसका पति जानता है"[23] कवि-आलोचक विश्वनाथप्रसाद तिवारी का उपरोक्त कथन और काव्य-संदर्भ यह दर्शाता है कि रघुवीर सहाय अपने समय के जेंडर संबंधी सवालों को गंभीरता से महसूस कर रहे थे। औरत, स्त्री और लड़की की बदहाली के ढेरों चित्र उनकी कविताओं में मौजूद हैं।

अभावग्रस्त, भय से पीड़ित, उपेक्षित स्त्री की करुण कथा को भी कवि ने अलग विशिष्टता प्रदान की है और यही उनकी कविता का सौंदर्य भी है।

नरेश मेहता और धर्मवीर भारती सदृश्य प्रयोगवादी कवियों ने काव्य-वस्तु तथा काव्य-भाषा के स्तर पर नवीन प्रयोग किया है। इस नवीनता व अनगढ़ता में भी इन दोनों ने भारतीय कथाओं, लोक-कथाओं तथा मिथकों आदि के सहारे अपने समय-संदर्भ को बिल्कुल नए शब्द और नए मुहावरों के साथ अभिव्यक्त किया है। इन दोनों ही कवियों के स्त्री-विषयक चिंतन पारंपरिक सीख़चों में विन्यस्त होने के बावजूद स्त्री-जीवन के बड़े प्रश्नों को उठाते हैं। निश्चित रूप से दोनों ही कवि मिथकों की नवीन सर्जना करते हैं। नरेश मेहता की 'संशय की एक रात', 'शबरी', 'मेरा समर्पित एकांत' आदि काव्य-संग्रह की कविताओं में स्त्री 'माँ', 'सीता' आदि पारिवारिक-सामाजिक बंधनों में बंधकर ही आती है। 'संशय की एक रात' में राम की चिंता व संशय में सीता द्वितीयक रूप में ही आती है, समाधानकर्त्ता के रूप में नहीं! कवि अपनी 'माँ' के स्मरण में भी स्त्री के गृहिणी रूपकों में ही उन्हें देखता है : "मैं नहीं जानता / क्योंकि नहीं देखा कभी - / पर, जो भी / जहाँ भी लीपता होता है / गोबर के घर-आँगन, ... जहाँ भी लोहे की कड़ाही में छौंकता होता है / मैथी का भाजी, / जो भी / जहाँ भी चिंता भरी आँखें लिए निहारता होता है / दूर तक का पथ - / वही, / हाँ, वही है माँ!!"[24]

"भारती के काव्य में –विशेष रूप से उनके आरंभिक काव्य में – नारी-शरीर के अनेक सुंदर कल्पना-चित्र मिलते हैं। नारी के अंग-अंग के चित्र, उसके अनेक सौंदर्य-प्रसाधनों के चित्र, युवती नारी और विशेष रूप से ग्रामीण युवती के चित्र बड़े ही मोहक और आकर्षक हैं। कवि ने अपने जिस उजले, कोमल, पारदर्शी प्यार और नाजुक मिलन का वर्णन किया है वह बड़ा ही दिव्य है।"[25] 'ठंडा लोहा', 'अंधायुग', 'कनुप्रिया', 'सातगीत वर्ष' तथा 'प्रेमथ्यु गाथा' आदि कविताओं में कवि ने निर्भीकता से स्त्री-सौंदर्य के मांसल रूप का वर्णन किया है। स्त्री-केन्द्रित उनकी कविताओं में स्त्री-देह की तमाम रंगीनियत मौजूद है। 'जाफरानी तन', 'चंपई वक्ष',

'फिरोजी होंठ', 'मुंगें की होंठ', 'अरुन गुलाबी नैन', 'कंचन तन', 'गोरी बाहें', 'गोर-सांवर उँगलियाँ', 'अधखुले बाल', 'उन्मन पलकें', 'अल्हड़ तरुणाई', 'देहलता', 'गजरे-सी बाँह' आदि कविताओं में स्त्री-देह के अनेक चित्र मिलते हैं जो कवि की रूमानियत को दर्शाते हैं। प्रेम प्रदर्शन की दैहिक दृष्टि में प्रेम की सहजता कम और वासना-तृप्ति की कामना अधिक मिलती है। स्त्री को केवल रूप-सौंदर्य तक ही केन्द्रित कर देना पितृसत्तात्मक सोच की दुर्नीति है। स्त्री-देह के संसर्ग के प्रति कवि की उन्मुक्तता जग-जाहिर है। मुक्तकंठ से कवि कह उठता है – "अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे / अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे / महज़ इससे किसी का प्यार मुझको पाप कैसे हो? / महज़ इससे किसी का स्वर्ग मुझपर शाप कैसे हो?"[26] कथित रूप से प्रेम की इस अभिव्यक्ति में स्त्री महज ऑब्जेक्ट अथवा वासना-तृप्ति का साधन बनकर ही रह जाती है। उसकी कोई अपनी भूमिका, अपनी इच्छा या अपनी आत्माभिव्यक्ति सामने नहीं आ पाती।

साठोत्तरी हिंदी कविता :

साठोत्तरी या समकालीन हिंदी कविता छोटे-छोटे काव्यान्दोलनों के रूप में अपना स्वरूप ग्रहण करती है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कवियों ने कविता को अनेक संज्ञाओं से अभिहित करते हुए कभी उसे आंदोलन का रूप दिया तो कभी उसे वर्ग विशेष से जोड़कर अपनी पक्षधरता को स्वघोषित किया है। सातवें दशक से आरंभ होते हुए यह नौवें दशक के अंतिम दौर तक चलता है। 'विद्रोही पीढ़ी', 'अभिनव काव्य', 'अकविता', 'निषेध कविता', 'अस्वीकृत कविता', 'युयुत्सावादी कविता', 'नव प्रगतिशील काव्यान्दोलन', 'आज की कविता', 'वाम कविता', 'सनातन सूर्योदयी', 'सहज कविता', 'विचार कविता', 'साम्प्रतिक कविता', 'निर्दिशामयी कविता', 'ताजी कविता', 'टटकी कविता', 'समकालीन कविता' तथा 'कैप्सूल या सूत्र कविता' आदि काव्यान्दोलनों ने कविता की दिशा ही बदल दी।

अब कविता, कविता से अधिक किसी धारा या संज्ञा में परिवर्तित होकर रह गई। निश्चित रूप से इस प्रक्रिया में कविता का कवितापन पीछे रह गया। जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, श्रीराम शुक्ल, राजकमल चौधरी, शलभश्री रामसिंह, नवल किशोर, डॉ. रणजीत, हरीश मदानी, परमानंद श्रीवास्तव तथा विश्वंभरनाथ उपाध्याय आदि बहुतेरे कवि कविता के जरिए अपनी विचारधारा स्थापित करते दिखाई पड़ते हैं। इन घोषणाओं-अभिव्यक्तियों में जो एक साम्य दिखता है वह यह कि सभी कवियों को अपनी वैचारिक स्थापनाओं के साथ कविता के मार्फत कुछ न कुछ कहना था। '1963 ई. में जगदीश चतुर्वेदी के संपादन में 14 कवियों का काव्य-संग्रह 'प्रारम्भ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ जिसमें 'अभिनव-काव्य' की स्थापना का दावा किया गया। 'प्रारम्भ' में संकलित 14 कवियों में तीन कवयित्रियों (ममता अग्रवाल, मनमोहिनी, स्नेहमयी चौधरी) को भी शामिल किया गया था। 'अभिनव-काव्य' को ही 'अकविता' की संज्ञा दी गई। 'जगदीश चतुर्वेदी ने सन् 1964 ई. में डॉ. इन्द्रनाथ मदान एवं रमेश कुंतल 'मेघ' द्वारा संपादित 'अभिव्यक्ति' में 'अभिनव काव्य' को एक नया नाम 'एंटी पोइट्री' या 'अकविता' दिया। 1965 ई. में 'अकविता' नामक पत्रिका का प्रकाशन अकविता आंदोलन के प्रवर्तक श्याम परमार ने किया।

साठोत्तरी या समकालीन कविता आंदोलन संक्रमणकालीन दौर की विविध समस्याओं एवं परिवर्तनों को विभिन्न काव्य आंदोलन के रूप में संवहित करती है। स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों ने देश की आम जनता को घोर निराशा और मोहभंग का बोध करा दिया था। सत्ता व्यवस्था की अव्यवस्था, निरंकुश वृत्ति मध्यवर्ग व निम्नमध्यवर्ग के सपनों को, उनकी आशा-आकांक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ थी। सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था धनवान को अधिक धनवान और गरीब को और अधिक गरीब बना रही थी। घुटन, निराशा और अमूल्यन के दौर में कवियों ने कपोल-कल्पित, राग-रंजीत भावों को छोड़कर समाज की, व्यक्ति की तथा व्यवस्था की क्षुद्र सच्चाई को परत-दर-परत उघारने का काम किया है। 1960 के पश्चात उभरी

वैश्विक समस्याओं ने भारतीय राजनीति को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात मोहभंग, चीनी आक्रमण, पाकिस्तान सीमा-संघर्ष, अकाल, भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन, बेरोजगारी, जन-असंतोष आदि ने कविता के स्वभाव को पूरी तरह बदल दिया। उपरोक्त काव्य आन्दोलनों या काव्य धाराओं में प्रगतिशील चेतना हाशिए से जुड़ती है। सत्ता व्यवस्था और आमजन के सवालों के साथ कवि मुखर होते दिखते हैं। इस दौड़ में कई पीढ़ियों के वरिष्ठ कवि भी शामिल हैं। एकसाथ लगभग तीन-चार पीढ़ियों के कवियों ने साठोत्तरी हिंदी कविता को एक मजबूत आधार प्रदान किया। रघुवीर सहाय, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि से लेकर वेणु गोपाल, केदारनाथ सिंह, कैलाश वाजपेयी, राजकमल चौधरी, लक्ष्मीकांत वर्मा, चन्द्रकान्त देवताले, अशोक वाजपेयी, अरुण कमल, आलोक धन्वा, लीलाधर जगूड़ी सरीखे कवियों की कविताओं ने हिंदी कविता के परिदृश्य को समाज के अंतिम जन तक पहुंचाने का काम किया। कुछेक सप्तकीय कवियों ने भी कविता में नवीन भंगिमा पर ज़ोर दिया है।

आपातकाल की परिस्थितियों ने जहां एक ओर सत्ता की निरंकुशता को जगजाहिर किया, वहीं दूसरी ओर देश की संघर्षशील जनता ने प्रतिरोध की आवाज को और भी अधिक मुखर बनाने का काम किया है। इस दौर के लगभग सभी कवियों में स्त्री के प्रति जो नजरिया है वह एक रेखीय नहीं है। वरिष्ठ कवि स्त्री की पारंपरिक छवि को ही सुधारवादी दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे थे। नक्सलवाद और प्रगतिशील चेतना से प्रभावित कवि स्त्री के प्रति उदार तो दिखते हैं लेकिन उनकी अनुभूति परकायाप्रवेश तक पहुँच नहीं पाती। युवा कवियों ने जरूर स्त्री को गुलाम बना चुकी पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर प्रहार किया है। इन सबसे अलग कुछ वरिष्ठ और चर्चित कवियों के यहाँ स्त्री के प्रति दुराग्रह अथवा द्वेष का भाव दिखता है। यह अचरज की ही बात है कि जो कवि राजनीति, लोकतंत्र और आम आदमी की दुरावस्था को विद्रोह का रूप देता है। उन्हीं की कलम में स्त्री के प्रति या स्त्री-देह के प्रति यह द्वेष भाव कैसे आ जाता है। कोई स्त्री या

'हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला हो जाती है' या 'जिसकी पूंछ उठाई मादा पाया' (संसद से सड़क तक) यह भाव दर्शाता है कि प्रगतिशील बोध के बावजूद (स्त्री को कमजोर मानना, दैहिक स्तर पर अपवित्र कहना आदि) कवि उस हिंसक पुरुषवादी और सामंती मानसिकता से विलग नहीं हो पाया जिसकी ट्रेनिंग उसे बचपन से दिया जाता है। स्त्री को कमजोर मानना, दैहिक स्तर पर अपवित्र कहना या स्त्री के लिए यौन हिंसा की शब्दावली का प्रयोग करना आदि कवि के भीतर पैठे मिसोजिनिस्ट भाव को प्रदर्शित करता है। स्त्री के संदर्भ में सेक्स को भी अनेक कवियों ने फूहड़ता के साथ कविता में व्यक्त किया है। राजकमल चौधरी 'बीट कविता' के मार्फत मुक्त यौन संबंधों का खुला चित्रण करते हैं।

अव्यवस्था और राजनीतिक मोहभंग से संघर्ष करता कवि भी जब स्त्री के प्रति पूर्वाग्रहों से आच्छन्न दिखता है ; तब यह निश्चित ही एक जीर्ण-शीर्ण पड़े अवचेतन में व्याप्त उद्रेक ही है जो न चाहते हुए भी उसके सोच, विचार और स्वभाव में आ ही जाता है। हर पल में जीना और हर क्षण को भोगना ही जैसे इस समय की त्रासदी बन गई। कविता ने तीव्र गति से अपनी प्रभाव लीला को बदला ; आम और शिष्ट आदि सभी के भीतर मौजूद कटुता व व्यवस्थाजनित आक्रोश की प्रतिक्रिया दिखने लगती है। इन सब परिस्थितियों के बीच साहित्य में स्त्री की अवस्थिति पारंपरिक गृहस्थ जीवन से इतर परिवर्तनशील रही है। धूमिल और राजकमल चौधरी दो ऐसे महत्त्वपूर्ण कवि हुए जिन्होंने राजनीतिक अस्थिरता, विफलता और आमजन की बदहाली के आक्रामक भाव को सबसे ज्यादा कविता का वर्ण्य-विषय बनाते हैं। जनतंत्र और व्यवस्था की विभीषिका की विफलता के चित्रण में स्त्री के यौन अंगों को कुंठा की भावना से देखना समझ से परे है। धूमिल की कई कविताओं ('कविता', 'सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र (दो)', 'जनतंत्र में सूर्योदय', 'राजकमल चौधरी के लिए', 'उस औरत के बगल में लेटकर', 'स्त्री', 'नौ मादा कविताएं', 'गृहस्थी : चार आयाम') में स्त्री के यौन अंगों का भदेस चित्रण आया है। इन कविताओं में स्त्री केवल उपजीव्य के रूप में आती है। 'स्त्री तू देह से बढ़कर कुछ

भी नहीं!' भाव से आसन्न। राजकमल चौधरी की कविताओं में स्त्री महज सेक्स के आइकॉन के रूप में आती है। इनकी 'ऋतु शृंगार में खंडित नायिकाएँ', 'वेश्याएँ' आदि कविताओं में एक आवयविक भाव दिखता है। लीलधर जगूड़ी की कविताओं में भी एक ओर जहां बाजार में सौंदर्य प्रसाधनों में स्त्री को उत्पाद में तब्दील दिखाया गया है वहीं दूसरी ओर उसके प्रति गहरा विक्षोभ भी दिखता है। विशेष रूप से जहां भी स्त्रियों के अंग अथवा देह-प्रदर्शन का जिक्र आया है, वहाँ कविता गंभीर होने के बजाए लिजलिजा दिखती है। 'ईश्वर की अध्यक्षता में', 'खबर का मुँह विज्ञापन से ढका है' संग्रह की स्त्री केन्द्रित कविताएं बाजार की स्त्री विरोधी संस्कृति की गाँठें खोलती नजर आती हैं। लीलाधर जगूड़ी के साथ ही कैलाश वाजपेयी, लक्ष्मीकांत वर्मा, चन्द्रकान्त देवताले आदि अनेक कवियों ने स्त्री के प्रति उस भावना को कविता में तरजीह दी है जो युग की मांग थी। इन कवियों ने जमीन से जुड़े व्यवहारिक मुद्दों को कविता में अभिव्यक्त किया। स्त्री का रूपक यहाँ अधिक संवेदनशीलता के साथ आया है। इसी का प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ता है। रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी और नक्सलवादी आंदोलन से प्रभावित कवियों ने स्त्री को अपने साथी का दर्जा देते हुए भी स्वयं के भीतर मौजूद पितृसत्तात्मक कटुता को समन करते दिखते हैं। चन्द्रकान्त देवताले की कविता स्त्री की पीड़ा और पहचान को सार्थक शब्दों में संयोजित करती है। इसी के सामानांतर रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और अशोक वाजपेयी जैसे कवियों ने स्त्री के प्रति एक स्वस्थ नजरिया को कविता के रूपक में सँजोया है। केदारनाथ सिंह की 'हॉकर', 'टमाटर बेचने वाली बुढ़िया', 'तुम आईं', 'घुलते हुए गलते हुए', 'एक पारिवारिक प्रश्न', 'अजूबा', 'सूई और तागे के बीच', 'बाघ', 'जो एक स्त्री को जानता है' अशोक वाजपेयी की 'आसन्नप्रसवा माँ', 'माँ की ट्रेन में दिदिया', 'जो नहीं है', 'उम्मीद का दूसरा नाम', 'कहीं नहीं वहीं' तथा रघुवीर सहाय की 'फिल्म के बाद चीख़', 'मेरी स्त्री', 'नारी', 'चढ़ती स्त्री', 'किले में औरत', 'अभी तक खड़ी स्त्री', 'स्त्री', 'उम्र', 'औरत की ज़िंदगी', 'लुभाना', 'आत्महत्या के विरुद्ध', 'अकेली औरत' आदि

कविताओं ने स्त्री की वास्तविक स्थितियों का ब्योरेवार संदर्भ प्रस्तुत किया है। यहाँ सहानुभूति से अधिक जर्जर पितृसत्ता और पुंसवादी प्रतीकों के हिमायती पुरुष वर्ग के प्रति धिक्कार का भाव है। स्त्री के परिश्रम को, उसके कामकाजी रूप तथा जीवन को हर हाल में सुंदर बना डालने की सिद्धि को इन कवियों ने पूरी गरिमा के साथ व्यक्त किया है।

ii. स्त्री कविता की ऐतिहासिकता और जातीय स्मृतियाँ :

अपने पुरखिनों की सदाशयता से स्त्री-कवियों ने अपनी काव्याभिव्यक्ति को परिपाक किया है। नानी-दादी-चाची-बुआ-सास-ननद आदि दर्जनों पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों की रसोन्मत्त जातीय स्मृतियाँ उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण अवलंब बनती हैं। स्त्री-जीवन के जन्म से मृत्युपर्यंत की विभिन्न विभीषिकाओं की रूपहली धूप-छांव को स्त्री-कवियों ने कथात्मक रूप दिया है। बहनापा भाव से संसार भर की स्त्रियों से तादात्म्य स्थापित करती उनकी कविताएं निजता को सामाजिकता में बदलती चलती हैं। स्त्री-देह संबंधी धार्मिक-पौराणिक नियामकों पर भी स्त्री-कविता अपना एक स्पष्ट एजेंडा रखती है। आधुनिक शिक्षा-संस्कृति और जीवन-मूल्यों में बदलाव के आलोक में ही इस परिवर्तन और स्त्री-कविता के स्थापत्य को समझा जा सकता है। स्त्री जाति को इतिहास में जगह न मिलने की कसक तथा सदियों से हाशिए का दंश झेलती स्त्रियाँ अब अपनी आकांक्षा में पूरी पृथ्वी की चिंता और चेतना से संपृक्त हो रही हैं। उसे अपने समाज के जेंडर्ड स्ट्रक्चर से वैचारिक मतभेद है—लड़ाई और संघर्ष भी उन्हीं असमान नियामकों से है। अतः स्त्री-कविता स्त्री-समाज के एक बड़े फ्रेमवर्क को रचती है। इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है स्त्री समाज अपनी जातीय अस्मिता को—अपनी लैंगिक अस्मिता को पहचाने और सभी को वैचारिक धरातल पर एकजुट करें। अपनी ऐतिहासिक एवं जातीय स्मृतियों के बोध द्वारा ही स्त्री-कविता ने स्त्री-व्यक्तित्व के अब तक के खंड-खंड रूप को एक साथ पिरोकर उसके अखंड रूप को जनमानस के समक्ष रखा है। स्मृतियाँ सहारे की भाँति स्त्री-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग रही हैं ; "स्मृति—चाहे वह वैयक्तिक स्मृति हो या जातीय स्मृति—विस्थापितों के साहित्य में उसकी भूमिका चार्जर की होती है; और स्त्री से बड़ा विस्थापित भला कौन है!"[27]

धर्मों-शास्त्रों एवं किंवदंतियों से लेकर ग्रन्थों में स्त्री-देह अथवा अंगों की कामुकता एवं उसकी इयत्ता की पुरुषवादी व्याख्या से इतर स्त्री-कविता ने उसे एक सम्पूर्ण मानवी रूप दिया है और एक मानवी होने का भावनात्मक आधार दिया है। यथा : "शास्त्रों में एक स्त्री के बूढ़ी होने

के / कई नियम लिखे हैं / कुछ नहीं भी लिखे हैं / एक संतान की अनुपस्थिति में से / पल-पल गुजरना / ठोस-तर्क-बुद्धि लेकर / एक ऐसा ही नियम है।"[28] स्त्री के रूप-यौवन और उसकी देहयष्टि के भौतिक अवलोकन ने उसकी प्राकृतिक पहचान को उससे अलग कर दिया। यह उसे अपने जातीय/लैंगिक बोध से अलगाने का प्रथम प्रयास था। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने जैसे प्रकृति से उसकी मौलिक चिकनाई व चेतनता को उससे अलग कर उसे ड्रॉइंग रूम की कृत्रिम सुंदरता में बदल दिया, उसी तरह स्त्री-व्यक्तित्व को उसकी मौलिक चेतन-प्रज्ञा से पृथक कर उसे धर्म की—पुरुष की अनुगामिनी बना दिया। स्त्री-लेखन की साहसिकता ने स्त्री-समाज को नए सिरे से जागृत करने का काम किया। इस नयी जागृति ने न सिर्फ अपनी जातीय चेतना को पहचाना, बल्कि नए दृष्टिकोण से अपनी ऐतिहासिक विकास-यात्रा को भी विमर्श का हिस्सा बनाया। देह में कैद कर दी गई उसकी सारी सृजनधर्मी चेतना को पितृसत्ताक समाज ने धर्म-समाज आदि के—मान – मर्यादा के संकीर्ण घेरों में दफन कर दिया था। अब की नयी स्त्री उन सारी षड्यंत्रकारी—अमानुषिक नीतियों पर, उसी पितृसत्ताक व्यवस्था के समक्ष प्रश्न करती है : "यदि तुम उसे कहने देते / वह बताती तुम्हें / कैसे बेलती है रोटी / एक स्त्री / दूर किसी घर में / उसके मुँह में।"[29] मूक बनाए रखने की व्यवस्थात्मक रणनीतियों ने अंततः पुरुषों की मानसिक और शारीरिक कमजोरियों को और भी हिंसात्मक रूप में उजागर किया। हमेशा से स्त्री अपनी मानवी रूप से अधिक हमारे समाज के लिए तब भी समर्पित थी और आज भी सार्थक रूप में समर्पित है। घर की—देहरी की दुनिया को उसने विपरीत से विपरीत स्थितियों में भी गुलज़ार किए रखा। लेकिन अपमान की ऐतिहासिक शृंखलाओं ने उनके भीतर के स्वाभिमान को अपने ही समाज द्वारा बनायी गई बेड़ियों को तोड़ने के लिए प्रतिबद्ध किया और स्वाधीनता की उमंग की चाह को प्रदीप्त किया। स्वतंत्रता-संघर्ष में स्त्रियों की साहसिक भागीदारी और क्रांतिचेता अवदान को भुलाया नहीं जा सकता। विभिन्न आंदोलनों में निरंतर स्त्री की बढ़ती भागीदारी ने सम्पूर्ण समाज की अधोगतिकी को नए सिरे से स्त्री-व्यक्तित्व पर सोचने को मजबूर किया। इससे

पूर्व स्त्री समुदाय अपनी शूरवीरता और शक्तिमत्ता का परिचय 1857 की क्रांति के दरम्यान दे चुकी थी। *झाँसी की रानी*, *बदुरी की ठकुरानी*, *कुमुदिनी मित्तर* आदि से लेकर रवीन्द्रनाथ टैगोर की भतीजी *सरला देवी*, *सरोजिनी नायडू* तथा *विजय लक्ष्मी पंडित* आदि की सक्रिय भागीदारी और क्रांति-उद्घोष ने अंग्रेजी सत्ता की नींव को हिला दिया था और भारतीय समाज भी स्त्री की शौर्यगाथा के नए अध्याय को लिख रहा था। झाँसी की रानी की वीरता और यशोगान हमारी भारतीय मनीषा का कंठहार है। उनके योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्त्री-समाज अपनी जातीय चेतना के उदात्त उद्गम को इन्हीं जैसे महीयसी चरित्रों से जोड़ता है। बक़ौल सुमन राजे "प्रसिद्ध 1857 की क्रांति में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अहम भूमिका निभाई। इतिहास में संभवतः पहली बार उन्होंने 'स्त्री सेना' का गठन किया और अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। अपनी शहादत से उन्होंने स्वतंत्रता की नींव रखी।"[30] समाज के लिए स्त्रियों द्वारा किया गया व्यापक संघर्ष यहीं नहीं थमता; वह और भी व्यापक और विस्तृत रूप लेकर स्वयं को विस्तार देता है। लेकिन समाज में रूढ़ हो चुकी जेंडर निर्मिति ने स्त्रियों के व्यापक और अभूतपूर्व अवदान को हमेशा से इतिहास से बाहर रखा। जबकि वह (स्त्री वर्ग) दो-दो मोर्चों पर एकसाथ समान क्षमता से अपना सर्वस्व दे रहा था—देहरी के भीतर परिवार के भरण-पोषण के दायित्व का निर्वाह करना और देहरी के पार राष्ट्र के लिए—स्वतंत्रता संघर्ष में अपना सर्वस्व न्योछावर करने के दायित्व को पूरा करना। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी यह कारवां यूं ही अपने-अपने क्षेत्र-विशेष में स्त्रियों ने उठाए रखा।

नयी शिक्षा और औद्योगिक प्रसार के वातावरण में बाहर निकली स्त्री ने पुरुषों और समस्त संसार के साथ एक नए संबंध को स्थापित किया। समाज के स्त्री संबंधी पौराणिक-जर्जर मूल्य धीरे-धीरे जीर्ण-शीर्ण हो रहे थे लेकिन इन सबके बावजूद भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की नियत पूर्णतः स्त्री-स्वाधीनता के पक्ष में कभी नहीं रही। स्त्री की दैहिक-मानसिक अवस्था पर

अपना आधिपत्य बनाए रखने की मंशा से, उसे अपनी दृष्टि से ही व्याख्यायित-विश्लेषित कर उसे या तो पूजा सामग्री में बदल दिया या फिर एक पण्य वस्तु रूप में।

इक्कीसवीं सदी के नए युग में आधुनिक मूल्यों और शैक्षिक-वैज्ञानिक चेतना से लैस एक बड़े स्त्री-संवर्ग के पनपने से समाज की मानसिकता स्त्री के प्रति शनैः शनैः ही बदलती है। इक्कीसवीं सदी के दौर ने ; जिसे हम प्रायः संक्रमण काल, सूचना-क्रांति के विस्फोट का काल और उत्तर आधुनिक काल आदि नामों से अभिहित करते है—उसने वैश्विक चेतना जैसे मूल्यों का प्रसार किया। इसका सकारात्मक असर यह हुआ कि दुनिया के तमाम—सम्पन्न-विपन्न, ऊंच-नीच, पूरब-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर आदि सभी महादेशों के लोगों के मेल-मिलाप, ज्ञान व संवेदना के आदान-प्रदान ने लोगों की सृजनात्मकता को और भी संवर्धित किया। विकास की गति ने छोटे-छोटे देशों-संप्रदायों-वर्गों को भी विकसित होने का स्वप्न दिखाया। इस प्राक्कल्पना में स्त्री की भागीदारी भी सुनिश्चित थी। अपनी देहरी से विदेशों तक का सफर स्त्री-संवर्ग के लिए चुनौतीपूर्ण तो था ही लेकिन यह उनमें अपने अधिकार और कर्तव्य-बोध के प्रति आत्मविश्वास भी पैदा कर रहा था। स्त्री अधिकार व सम्मान संबंधी कानून में निरंतर बदलाव पितृसत्ता की बेड़ियों से धीमे गति से ही, लेकिन स्त्रियों को आज़ाद कर रहा था। दुनिया भर में कई स्त्री-केन्द्रित आंदोलन इसके उदाहरण हैं। यू.एन.ओ. (UNO) द्वारा 1975 के वर्ष को महिलाओं की सदी के रूप में घोषित करना भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक बड़ा कदम था। दुनिया भर की स्त्रियों के ऐतिहासिक बलिदान का यह प्रतिफल था।

इन व्यापक घटनाओं के बीच स्त्री-लेखन अपने उद्देश्यों को लेकर निरंतर सजग रहा है। परिवार-समाज और राष्ट्र की संकल्पनाओं में स्त्री-संबंधी पूर्वग्रहों-व्याभिचारों को रचनात्मक अभिव्यक्ति मिल रही थी। बहनापा भाव से स्त्रियों का जुड़ाव सैद्धांतिक रूप से तो हो ही रहा था, उसके सामानांतर वह व्यावहारिक रूप से भी सभी वर्ग की स्त्रियों को जोड़ने की मुहिम में जुट चुका था। कविता इनके लिए उस हततंत्री का तार बनी जिसकी अंतरंगता और अंतरलीनता

ने स्त्रीत्व को विराट रूप में प्रतिस्थापित किया। कवि-चिंतक अनामिका ने स्त्री-कविता के निहितार्थों को स्पष्ट करते हुए उसके विश्वायन रूप को परिभाषित किया है "स्त्री-कविता का सबसे बड़ा योगदान यही है कि उसने एक चटाई बिछाई है और पर्सनल-पॉलिटिकल, कॉस्मिक-कॉमनप्लस में माइक्रो-मैक्रो, इहलोक-परलोक, इतिहास और मिथक, शास्त्र और लोक, पौर्वात्य और पश्चिमी के बीच का पदानुक्रम तोड़कर उन्हें एक चटाई पर बिठाया है।"[31] अर्थात सारे ध्रुवांतों, सभी हदबंदियों और थोथी नैतिकतापरक पदानुक्रम को तोड़कर कविता में स्त्री सखी भाव से जुड़ती है और अपनी व्यथा-कथा कहती है। अनामिका ने कविता को अपनी जातीय स्मृतियों से ही सींचा है। थेरी गाथा हो या मिथकीय स्त्री चरित्र (सीता, सावित्री, सरस्वती, दुर्गा, काली आदि) सभी को अलग भाष्य व मुक्ति के रूपक में सँजोती हुई कवयित्री स्त्री-व्यक्तित्व की विराटता एवं त्याग की सबसे बड़ी भावना के रूप में स्थापित करती है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की प्रज्ञा से आबद्ध स्त्री का भाव अब एक नए विवेक से संचालित होता है। इस नए विवेक से ही कवयित्री स्त्री को भी परिभाषित करती है : "मैं जानती हूँ, मैं क्या हूँ, / सो, निंदा-प्रशंसा-कुछ मुझको नहीं व्यापती! / ज्ञान ही आहार है मेरा! / और शून्य ही मेरा घर, पुण्य मेरे सिंहद्वार!"[32] उत्पलवर्मा थेरी के आत्मकथ्य के बहाने कवयित्री ने अपने समय की साहसिक स्त्री के हृदय के उद्गारों को प्रस्तुत किया है। निंदा-प्रशंसा से परे जाकर ज्ञान की ऊंचाइयों को छूना नए युग-परिवर्तन और ऐतिहासिक आयामों को छूना है। यह आत्मबोध स्त्री की पारिवारिक-सामाजिक तथा राजनैतिक हैसियत को एक दिशा देता है। साथ ही धार्मिक-पारंपरिक जड़ताओं में फंसे स्त्री-जीवन को आज़ाद करता है और नई चुनौतियों के लिए तैयार करता है।

अनामिका स्त्री-कविता के गूढ़ार्थ को नए-नए आयामों से जोड़ती हैं। उनकी कविता एवं विचार प्रधान निबंधों में स्त्रियों के सामाजिक उत्थान की यात्रा को ऐतिहासिक महत्त्व मिला है। भारतीय स्त्री की स्थिति एवं गति का सम्पूर्ण रोचक पाठ है उनका गद्य-लेखन। विशेष रूप से

उनकी स्त्री संबंधी आलोचना व समीक्षाएं! साझा बहनापा भाव से सभी को गले लगाना और अपने आत्मसम्मान की रक्षा करना मूल उद्देश्य है। स्त्री विमर्श को 'साझा बहनापा' और 'साझा मातृत्व' जैसे पदबंधों से जोड़ना इस मुहिम का अहम हिस्सा है। साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, लोकशास्त्र आदि सभी अनुशासनों के साथ बाज़ार-उद्योग संस्कृति व टेलीविजन जगत आदि में स्त्रियों की बढ़ती हिस्सेदारी ने हमारे समाज-परिवार आदि संस्थाओं को किस रूप में परिवर्तित किया है इसकी तफसील अनामिका बड़ी सादगी से करती हैं। एक नए विमर्श के रूप में स्त्री-भाषा व भाषा में स्त्री की गहन पड़ताल वे अपनी गवेषणाओं में करती हैं। कविता उनकी गवेषणा-वृत्ति की 'दूब-धान' है जो उनकी जीवन-दृष्टि को पल्लवित करती है। एक गहरा व गंभीर आत्मविश्वास के साथ कि अब स्त्रियाँ कृपाकांक्षी या दयापात्र बनकर नहीं रहेंगी; वे अपनी राहें ख़ुद ही बनाएंगी; वे अपने ग्रंथ भी ख़ुद ही रचेंगी और भामती की तरह अटल रहेंगी। 'भामती की बेटियाँ' अब अपने सविवेक से कहतीं हैं : "कृपा नहीं, प्रेम का प्रसाद भी नहीं लेंगी, / भामती की बेटियाँ / ग्रंथ अपनी स्वयं ही रचेंगी / लगातार / इसी तरह / हर युग में!"[33] यही जातीय स्मृतियों की ताकत है जो निरंतर अपने लोकेतिहास से प्राप्त होती है। जीवन-दृष्टि के साथ ही अपने समकाल का बोध भामती की बेटियों अर्थात आज की आधुनिक-शिक्षित-वैज्ञानिक चेतना से सम्पन्न स्त्रियों को नवोन्मेषी बनाता है। स्त्री-कविता की विशिष्टता इस बात में भी है कि उसने ऐतिहासिक एवं मिथकीय प्रमेयों का भाष्य अलग-अलग दृष्टिकोणों से करते हुए उसके स्त्री पक्ष पर ज़ोर दिया। सीता और सावित्री इसी अर्थ में अबला अथवा मजबूरी की मारी न होकर सबल व क्रांति ज्योति प्रतीत होती हैं।

स्त्री-कविता की केन्द्रीय भूमिका जहां एक ओर स्त्री जाति के ऐतिहासिक अवदान को रेखांकित करना है, वहीं दूसरी ओर पुरुष-तंत्र के शिकार हुए ऐतिहासिक स्त्री-चरित्रों का अवगाहन करना भी है। गार्गी-मैत्रेयी-कपाला के साथ पन्नाधाय-कलावती मेहतरानी आदि सैकड़ों चरित्रों का स्मरण एवं उनका नवीन भाष्य प्रस्तुत करना, स्त्री-कविता की महत्त्वपूर्ण

उपलब्धि है। ये चरित्र लोकमानस तथा हमारी सांस्कृतिक चेतना में सदैव हस्तांतरित होते रहे हैं। इनका नवीन भाष्य मौजूदा स्त्री-समाज और समस्त जनमानस के लिए प्रेरणास्रोत है। इन चरित्रों की ऐतिहासिक कथा ही स्त्री-कविता की ऐतिहासिकता एवं जातीय स्मृतियों का अवलंब बनती है।

स्त्री-कविता के लगभग सभी हस्ताक्षरों ने इन स्मृतियों से अपनी काव्य-प्रज्ञा को सींचा है। अनामिका, कात्यायनी, नीलेश आदि के साथ ही दलित-आदिवासी वर्ग की कवयित्रियां अपने समाज के महनीय स्त्री-चरित्रों के संघर्ष एवं योगदान को अपनी कविता में साक्षी बनाया है। इन कथाओं-संघर्षों एवं स्मृतियों ने नयी स्त्री के बिम्ब को गढ़ा है जो पितृसत्तात्मक समाज के सभी षडयंत्रों-कूटनीतियों तथा धार्मिक पाखण्डी आचारों में गिरफ्त स्त्री की आज़ादी का आह्वान करती हैं; पुरुष-तंत्र मुखी सत्ता-व्यवस्था को चुनौती देती हैं। एक सबल-समर्थ स्त्री से पूरा पुरुष-तंत्र डरने लगता है क्योंकि वह स्त्री उसके तंत्र की नीतियों को जान चुकी होती है। कात्यायनी की 'इस स्त्री से डरो' कविता की स्त्री ऐसे ही स्त्री का प्रतिनिधित्व करती हैं : "यह स्त्री / सब कुछ जानती है / पिंजरे के बारे में / जाल के बारे / उससे पूछो। / पिंजरे के बारे में पूछो, / वह बताती है / नीले अनंत विस्तार में / उड़ने के रोमांच के बारे में।"[34] स्त्रियों के लिए धर्म-तंत्र, पुरुष-तंत्र द्वारा बनाए गए पिंजरे-यंत्रणागृहों और रहस्यों आदि के बारे में नयी स्त्री जान चुकी है/जान रही है और उसे तोड़ने व उससे निकल कर खुली हवा में साँस लेने की—आज़ादी को महसूस करने की—उन्मुक्त भाव से उड़ने के गुर को सीखती वह एक नागरिक के कर्तव्यों का निर्वाह करती है। अपने होने को सार्थक करती है।

कवयित्री स्पष्ट शब्दों में ऐसी स्त्री से उन संकीर्ण पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लोगों को डरने की चेतावनी देती है। कात्यायनी प्रखरता से उस सोच पर प्रहार करती हैं जो स्त्री जाति को पुरुष की अनुगामिनी या अंकशायिनी बनाती है। स्त्री-मुक्ति की वैचारिक धार से ही पितृसत्ता को चुनौती दी जा सकती है। कात्यायनी की अधिकांश कविताएं समाज में फैले फूहड़ मर्दवाद पर

व्यंग्य करती है। बहुमतवादी वर्चस्व की राजनीति में स्त्रियों की निरंतर दुर्दशा कात्यायनी की कविता एवं विचारधारा को गहरे प्रभावित करती है। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में हुए स्त्री-आंदोलनों का उदाहरण देते हुए उन्होंने भारतीय समाज को जागरूक किया है।

स्त्री-व्यक्तित्व की पारंपरिक छवि जिसमें उसके रूप-सौंदर्य और यौवन ही उसका अंतिम हथियार/गुण समझा जाता है ; उसके सौंदर्य की पृष्ठभूमि में कामुक वृत्ति ही प्रधान रहती है। स्त्री-काव्य के उद्बोधन ने उस सौंदर्याभिरुचि अथवा सौंदर्य-दृष्टि को बदलने का काम किया है। निराला की 'तोड़ती पत्थर' की वह स्त्री जो 'मार खा रोई नहीं'—श्याम तन पर बंधा यौवन की तर्ज़ पर सौंदर्य के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण जिसमें कामुकता अथवा वासना का लेश भी न हो ; अर्थात वह विशुद्ध रूप से हृदय की अभिव्यक्ति हो ; और पाठक में भी सौंदर्य के भाव उत्पन्न करें। स्त्री-कवियों में स्त्री के सौंदर्य के प्रति—उसके श्रम के प्रति निश्चित रूप से एक नया भाव है जो उसे अधिक मानवी—अधिक प्राकृतिक बनाती है। समाज में भ्रूण-हत्या की विनाशक नीतियों के सम्मुख स्त्री-कवियों ने प्रतिरोध की एक नयी नीति को अख़्तियार किया। अब बेटियाँ बोझ नहीं, बल्कि उसकी उपस्थिति पूरे वातावरण व परिवेश को सौंदर्य की भावना से आविष्ट करती है। कवयित्री सविता सिंह ने स्त्री-सौंदर्य की नयी कसौटियों को स्थापित किया है। प्रायः स्त्री-कवियों ने स्वयं को प्रकृति की महामाया स्वरूप से सन्नद्ध किया है। सविता सिंह, रंजना जाएसवाल आदि की ढेरों कविताएं स्त्री और प्रकृति के अन्तःसलिला राग को व्यंजित करती दिखती हैं। स्त्री-सौंदर्य के प्रति नया दृष्टिकोण उन्हें प्रकृति की अनन्य लीलाओं से प्राप्त होता है। सविता सिंह की 'अद्वितीय नाच', 'गरिमामय जीवन के लिए', 'मुझे वह स्त्री पसंद है', 'सौंदर्य का आश्चर्यलोक', 'बड़े बाप की बेटियाँ', 'ईश्वर और स्त्री' आदि कविताएं जहां एक ओर सम्पूर्ण स्त्री-जाति की ऐतिहासिक स्मृतियों को नया अर्थ प्रदान करती हैं, वहीं दूसरी ओर उसके प्रति पारंपरिक सौंदर्य अभिरुचि को नयी चेतना से उद्दीप्त करती हैं। 'सौंदर्य के आश्चर्यलोक' के आस्वादन से ही उस नए सौंदर्य भाव को जाना जा सकता है : "अब मुझे अपनी बेटियाँ इतनी

सुंदर लगती हैं / कि मैं उनके पाँवों को चूमती रहती हूँ / मन ही मन खुश होती हूँ / कि एक स्त्री हूँ / और घिरी हूँ इतने सौंदर्य से।"[35] स्त्री के प्रति एक स्त्री का यह नया सौंदर्य भाव न सिर्फ स्त्री-कविता के सौंदर्यशास्त्र की निर्मिति है बल्कि पितृसत्तात्मक स्त्री-सौंदर्य के मानकों के समक्ष, एक रणनीति भी है—एक प्रतिरोध भी है! इस भाव के अवगुंठन में स्त्री की जातीय स्मृतियों का अहम योगदान है।

स्त्री की अवस्थिति ; वह चाहे—परिवार में हो या परिवार के बाहर बतौर स्त्री रूप में उनके योगदान को, उनके समर्पण भाव आदि की चर्चा के स्थान पर उन्हें 'दुख की मारी, किस्मत की मारी', 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' वाले भाव से उसके पारिवारिक-सामाजिक अवदान की महत्ता को—स्त्री-जाति के पूर्वाग्रहग्रस्त मानकों में कसकर छोड़ दिया जाता है। सविता सिंह जैसी कवयित्री पितृसत्ता के इन निर्मोही स्वरूपों पर कई अभेद्य प्रश्नों को दागती है। पारिवारिक संवेदनशील रिश्तों में स्त्री की तयशुदा भूमिका निर्वाह से अलग व्यवहार को प्रायः बर्दाश्त नहीं किया जाता है। फिर सवाल प्रेम का हो या देह का ; सभी स्थानों पर पितृसत्ता के नियामक मौजूद होते हैं। परिवार को समर्पित सम्पूर्ण जीवन भी स्त्री के लिए करुणा का भाव नहीं जगाता है : "आज भी बेटियाँ कितना प्रेम करती हैं पिताओं से / वही जो बीच जीवन के उन्हें बेघर करते हैं / धकेलेते हैं जो उन्हें निर्धनता के अगम अंधकार में / कितनी अजीब बात है / जिनके सामने झुकी रहती है सबसे ज्यादा गर्दन / वही उतार लेते हैं सिर।"[36] सिर उतार लेने का शऊर हमारे समाज को बख़ूबी आता है। कवयित्री ने उस भाव-बिम्ब को उठाया है जहां प्रतिरोध करना भी एक स्त्री के लिए मुमकिन नहीं हो पाता। जहां 'बेटी के जन्म पर शोक और बेटे के जन्म पर जश्न' मनाने की संस्कृति हो वहाँ इससे अधिक की क्या उम्मीद होगी! लैंगिक अथवा अस्मितावादी विमर्श इन्हीं सामाजिक-धार्मिक तथा सांस्कृतिक रूढ़ि को विमर्श का हिस्सा बनाकर हृदय परिवर्तन की आस रखता है। स्त्री-कवियों की इस आत्माभिव्यक्ति ने सामाजिक यथार्थ के आईने को और भी विस्तृत रूप दिया है।

प्रसव, जन्म और मातृत्व स्त्री जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई है। मानव जाति के विकास में स्त्री के प्रसव-जन्म और मातृत्व को सत्ता-व्यवस्था ने अपनी तरह से व्याख्यायित-विश्लेषित किया है। नितांत निजी भाव होने के बावजूद स्त्री-जाति उक्त विषय पर बोलने-लिखने के लिए स्वतंत्र नहीं थी। स्त्री के इन भावों की भोक्ता और अधिवक्ता भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही रही है। धर्मतंत्र की छतरी में जैसे स्त्री-देह को अपवित्र-रहस्यमय-कामुक-नरक का द्वार आदि बनाया गया उसी तरह उनके भावों को भी जड़ सिद्ध किया गया। लेकिन मातृत्व एक ऐसा भाव था जिसकी आलोचना पितृसत्ता की वंश-परंपरा के लिए अलाभकारी थी इसलिए इस भाव को धर्मतंत्र ने खूब महिमामंडित किया। मातृत्व को इस हद तक महिमामंडित किया गया कि उसके बिना स्त्री की पूर्णता की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती है। मातृहीना स्त्री बेजान-महत्त्व हीन तथा परिवार-समाज से बहिष्कृत समझी जाती रही।

स्त्री-लेखन ने इन अवधारणाओं और धर्मतंत्र मुखी निग्रहों को विमर्श के केंद्र में लाकर अधकचरे ज्ञान के रूप में उसकी आलोचना की। आधुनिक समाज में अब भी प्रसव, जन्म और मातृत्व आदि को—उसकी ऊपरी समझ के आधार पर महिमामंडित किया जाता है। प्रसव की पूरी यात्रा की अंतहीन पीड़ा, मातृत्व की चुनौतियों से बेखबर समाज कभी उस मनःस्थिति की चिंता नहीं करता है। जिससे पल-पल स्त्री उस अवस्था में अपने भीतर महसूस करती है। जब स्त्री रचनाकारों ने इस ओर ध्यान आकृष्ट कराया तो सारे पूर्व प्रचलित-प्रक्षेपित पितृसत्तात्मक धारणाएं खंडित होने लगीं। पूरी हिंदी कविता में भी उसी महिमामंडन भाव को—मातृत्व को, सर्वसमावेशी भाव को ही स्त्री-जीवन के अंतिम आदर्श के रूप में स्थापित किया गया। हिंदी की स्त्री-कविता ने इस क्षेत्र में अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति द्वारा एक नए भाव-लोक को जन्म दिया। निश्चित रूप से यह नवीनता स्त्री-कविता की ही देन है। समकालीन स्त्री-कवियों में गगन गिल, अनामिका, सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी सरीखी कवयित्रियों ने प्रसव, जन्म और मातृत्व को न सिर्फ प्रामाणिक रूप में सामने रखा बल्कि उसका एक नया पाठ भी प्रस्तुत किया। इस मायने

में नीलेश रघुवंशी की *'पहली रुलाई तक डायरी'* की इक्कीस कविताएं स्त्री-कविता में एक नयी घटना हैं। स्त्री की अपनी जातीय स्मृतियों में यह भावाभिव्यक्ति सबसे अधिक प्रांजल और गंभीर है जिसे समझना एक स्त्री के नवीन मनोविज्ञान को समझना है। सुख-दुख, भय-जुगुप्सा, रोमांच-अवसाद, वेदना-संवेदना, संवाद-प्रतिसंवाद, भाव-अभाव, आचार-विचार, प्रकृति-संस्कृति, बनावा-दिखावा के साथ ही पारिवारिक-सामाजिक बतरस से भरी ये कविताएं स्त्री-जीवन में प्रसव, जन्म और मातृत्व की अनकही-अनलिखी कहानियों को पूरी प्रामाणिकता से ब्योरेवार रूप में प्रस्तुत करती हैं।

आधुनिक स्त्री इन दायित्वों (प्रसव, जन्म, मातृत्व और बाहरी दुनिया के कामकाज आदि) के साथ और भी श्रमशील होती गई। गगन गिल की 'दफ्तर में ऊँघती लड़कियाँ' कविता कामकाजी स्त्री के प्रसव-मातृत्व को अलग रूप में प्रदर्शित करती है। वह नौ महीने नहीं बल्कि तीन महीने के लिए ही माँ बनती है तथा उनके वात्सल्य-प्रेम की कथा भी अलग संदर्भ लिए होती है : "दफ़्तर की लड़कियों के / बड़े होते हैं बहन-भाई उनसे दूर, / फिर उनके बच्चे बढ़ते हैं उनसे स्वतंत्र, / पहचानना सीखते हैं मुँह देर बाद, / और भूलना सीख जाते हैं पहले दिन / सिर्फ तीन महीनों के लिए माँ बनती हैं लड़कियाँ।"[37] यह आधुनिक स्त्री की—आधुनिक जीवन-शैली का तनाव है। प्रसव-जन्म व मातृत्व संबंधी कोरा आदर्श यहाँ लिजलिजा लगने लगता है। नीलेश का कवि-हृदय भी इस संदर्भ को कविता में उतारता है। उनकी 'एक आशंका के साथ' कविता दफ़्तर में कामकाजी स्त्री के प्रसव-मातृत्व की ही आशंका है। अचानक दुनिया के सारे स्वप्न गर्भ में सिमट जाते हैं। स्वप्न-दुःस्वप्न की चिंताओं के बीच एक स्त्री का माँ बनना उसे उदासी और कौतूहल दोनों से भर देता है : "स्वप्न और दुःस्वप्न के चलते / बनेगी वह माँ / फ़ाइलों को लेकर चढ़ते-उतरते / देखते हैं हम सब उसे / एक आशंका के साथ।"[38] घर-परिवार के साथ सामाजिक दायित्वों के निर्वाह में साधारण स्त्री प्रसव अथवा मातृत्व को एक आशंका के साथ ही देखती है। पुरुषतांत्रिक समाज में उसकी यह आत्माभिव्यक्ति भी मातृत्व का अपमान

लगती है। इन सब भावों से इतर नीलेश की 'पहली रुलाई तक डायरी' की इक्कीस कविताओं का स्वर पूर्णतः भिन्न और नवीन है।

प्रसव, जन्म और मातृत्व संबंधी जिन प्रश्नों को यहाँ उठाया गया है वह मातृत्व को—स्त्री-जाति के महिमामंडन स्वरूप को और उन पर प्रक्षेपित धार्मिक-पौरूषिक अर्हताओं को एकसिरे से खंडन करते हुए उसे कठघड़े में लाते हैं। रोमांच और खुशी के बावजूद कवयित्री मातृत्व संबंधी बड़े प्रश्नों/अभिधानों पर प्रश्न खड़ा करती है : "...कितना आसान है कहना – जन्म देना सृष्टि का सबसे सुखद कार्य है / लेकिन कितना मुश्किल है जन्म देना / यह पीड़ा, यह कष्ट तुम क्या जानो... ... इन दिनों एक ऐसे अनुभव से गुजर रही हूँ / जिसे सिर्फ़ जिया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता / बहुत विराट है यह अनुभव, सुखद और कष्टप्रद दोनों... जानते हो कैसा लगता है इस समय, कि अब टूटा पुल कि तब टूटा / ट्रेन की ज़ंजीर खींचने का मन करता है, अब तो नहीं करनी ऐसा यात्रा। ... ... ये दर्द हैं, जान लेने का सुंदर सजीव तरीका... यह तो नरक है, नरक! जन्म देना एक यातना से गुजरना है... प्रसव पीड़ा को कोई और नाम देना चाहिए।"[39] प्रसव-पीड़ा को—जन्म देने की प्रक्रिया को यातना के रूप में समझना हमारे समाज के लिए नयी बात है। कम से कम पुरुष वर्ग के लिए तो है ही! यह भाव ही स्त्री-जाति की ऐतिहासिकता और उसकी जातीय स्मृतियों को अलग से रेखांकित करता है। यह एक स्त्री की पीड़ाभिव्यक्ति के बहाने स्त्री-जाति के संसर्ग को समझने की कवायद है। प्रसव, जन्म और मातृत्व के महिमामंडन के बजाए संवेदनशीलता की उम्मीद है। प्रसव के प्रति देवी या कोरा ईश्वरीय आदर्श के स्थान पर मानवीय संवेदना की आकांक्षा। नीलेश की विशेषता इस बात में भी है कि उन्होंने बड़ी सहजता से नौ महीने की यात्रा को बिना किसी दर्शन-दिग्दर्शन अथवा यांत्रिक जंजाल के साहित्यिक रूप में अभिव्यक्त किया है। कवयित्री के अंतर्मन की कलई आने वाले शीशु की गतिविधियों के साथ धीरे-धीरे खुलती है। स्मृतियाँ और आकांक्षाएं एकसाथ मनो-

मस्तिष्क में दौड़ लगाती हैं। अपने ही जैसी स्त्रियों की चिंता और अपने आसपास के परिवेश से स्वस्थ व्यवहार की आकांक्षा यहाँ साफ दिखती है।

स्त्री-कविता ने अपनी शिराओं को और विस्तृत रूप देते हुए स्त्री-समुदाय के साथ सम्पूर्ण जगत की संवेदना को एड्रेस किया है। सामाजिक संरचना में आने वाली विभिन्न परतें—वर्ण, वर्ग, धर्म, क्षेत्र, भाषा, परंपरा, संस्कृति आदि ने मनुष्य को मनुष्य रहने ही नहीं दिया। वह इन सबको कायम रखने का एक कलपुर्जा बन कर रह गया। दुनिया के तमाम इतिहास में मनुष्य और मनुष्यता को पूरी तरह लील जाने की ताकत इन आदिम शक्तियों में निहित है। मनुष्य को विभाजित रखने में भी इसका अहम योगदान है। इसके नाम पर मनुष्य के सर को कलम करना भी जाएज़ है। दिलचस्प तथ्य यह है कि दुनिया भर में अधिकांशतः इसके नीति-निर्धारक पुरुष-वर्ग ही रहा है।

स्त्री-कवियों ने एक स्वर में स्त्री के प्रति जातीय हिंसा का प्रतिरोध किया है। यह हिंसा कभी-कभी इतनी भयानक होती है कि रूहें काँप उठे! धर्म तथा परंपरा की रूढ़ियों के नाम पर स्त्रियों को सदैव ही तिलांजलि देनी पड़ी है। धर्म-संस्कृति आदि की खोल में होने वाली हिंसा के चित्र को कात्यायनी, शुभा और दलित स्त्री-कवियों ने बख़ूबी उकेरा है। शुभा की कविताएं तथाकथित सुसभ्य समाज में स्त्री-हिंसा की भयानक घटनाओं की दरियाफ़्त करती हैं। उनकी दर्जनों कविताएं धर्म केन्द्रित हिंसा से पीड़ित स्त्री की छवि को सामने लाती हैं। धर्म की आड़ में पुरुषवादी तंत्र का घृणित चेहरा वह साफ-साफ देखती हैं। हिन्दू हो या मुसलमान भारतीय समाज में स्त्री वहाँ कठपुतली की भूमिका में ही होती है। हर सांप्रदायिक दंगों में स्त्रियों के साथ होने वाली भयानक घटनाएं इसका प्रमाण है कि वह मौत के कई स्तरों से गुजरती हैं। देश के विभाजन से लेकर गुजरात दंगों तक के सफर में जिस दुर्भिक्षता का शिकार स्त्रियों को होना पड़ा, वह अकल्पनीय है। कात्यायनी की 'गुजरात- 2002' शीर्षक तीनों कविताओं में आए ब्योरे मानवीय संवेदना को जड़ बना देते हैं। शुभा की 'अभी देखना बाकी है' कविता स्त्री-जाति के

विध्वंश की अलग कथा कहती है। पितृसत्ता की वर्चस्ववादी नीतियों ने पूरी व्यवस्था को वहशी और उन्मादी बना दिया है। इस उन्माद को धर्म का चोला संरक्षण देता है। स्त्री-व्यक्तित्व को लिजलिजे और उपहास का केंद्र बनाकर उसके यौनांगों तक उसे सीमित कर देने वाली व्यवस्था अंततः उसे एक क्रीतदासी ही बनाती है। यथा : "कौसर बानो इसलिए मारी गई / कि मुसलमान थी / रुपकंवर इसलिए जलाई गई / कि हिन्दू थी / रुपकंवर और कौसर बानो / दुबकी हैं हर शहर में / अभी गुजरात कहाँ देखा / अभी तो हम औरतों पर / चुट्कुले सुन रहे है / और सेक्स मज़ा लेने की चीज़ है / कितनी शहरों से गुजरकर / गुजरात देखना अभी बाकी है।"[40] इन्हीं निरर्थक संदर्भों से स्त्री-व्यक्तित्व को जोड़कर उसकी सामाजिक महत्ता को कम किया जाता है। स्त्री-हिंसा के ऐसे सैकड़ों चित्र स्त्री-कविता की जातीय स्मृतियों का हिस्सा बनते हैं।

शुभा ने पुरुष-वर्ग के बलात्कारी और हत्यारे पुरुष चरित्र को सुसभ्य समाज में सम्मानित होते देखा है। वह अपनी कविता में स्त्री की निःसहायता को महसूस करती हैं। स्त्री-हिंसा का आलम यहीं नहीं रूकता उसका और भी वीभत्स रूप दलित-आदिवासी समाज में स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों में दिखता है। जाति के नाम पर यौन-शोषण, बलात्कार, हत्या की खबरों से आज भी अख़बार रंगे होते हैं। शासन-प्रशासन के साथ ही समाज का हिंसक वर्ग आदिवासी स्त्रियों की भारी मात्रा में खरीद-फ़रोख्त तो करता ही है, उन्हें अपनी कुंठा का शिकार भी बनाता है।

रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे आदि दलित स्त्री-कवियों और निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, जसिन्ता केरकेट्टा आदि सरीखी आदिवासी कवयित्रियों में स्त्री के साथ हुई यौन-हिंसा का भयावह रूप जैसे बार-बार एक ही बात कहना चाह रहा हो! केवल 'बलात्कार' शीर्षक से सभी कवयित्रियों ने कविताएं लिखीं हैं। बलात्कार को पितृसत्तात्मक व्यवस्था एक राजनीति के रूप में देखती है। स्त्रियों का मनोबल तोड़ने में, पुरुष के वर्चस्व को कायम रखने में, स्त्रियों के विकास को अवरुद्ध करने में और उसके जातीय स्वर को नेस्तनाबूद करने के लिए बलात्कार

पितृसत्तात्मक व्यवस्था की क्रूर चाल है। 'बलात्कार' कविता में रजनी तिलक पितृसत्ता की इस क्रूरता का खुलासा करती हैं : "सभी बलात्कार होते वीभत्स क्रूर / जाति या जेंडर के नाम पर / यौन-शोषण या बलात्कार के रंग / कुछ अलग नहीं होते / वह स्त्रियों को दबाने का एक हथियार / मनोबल तोड़ने की राजनीति / अपनी मर्दानगी / अहम, अहंकार, ताकत की भरपूर मस्ती / बस बहुत हो गया।"[41] इस कविता में कवयित्री यह उम्मीद भी करती है कि अब बलात्कारियों का बचना मुश्किल है। बलात्कार के विरुद्ध जन-सैलाब का जागना ही उम्मीद की किरण है। लेकिन ऐसा हो नहीं पाता! बलात्कार, यौन-हिंसा, यौन-उत्पीड़न आदि से लेकर भावनात्मक हिंसा स्त्रियों को नित्यप्रति झेलना पड़ता है। कानून हो या समाज अथवा बौद्धिक वर्ग सभी इस हिंसा संस्कृति में शामिल हैं। यह हिंसा तभी रुक सकती है जब स्त्री-समाज एक स्वर में एकजुटता से इसका प्रतिरोध करे, समाज में फैले जेंडर पूर्वाग्रहों के खिलाफ आमजन को जागृत करे। एकजुटता और बौद्धिक प्रतिरोध के साथ ही पितृसत्तात्मक संस्थाओं के खिलाफ मुखर होना भी उतना ही आवश्यक है। स्त्री-जाति के ऐतिहासिक बलिदानों से सीख लेना; उनके विचारों की ऊर्जा से समाज में संतुलन स्थापित करने का कार्य भी अब उन्हें अपने हाथों में लेना होगा। इतिहास की चुनौतियों से सीख लेकर ही वह अपने इतिहास का निर्माण कर सकती है। इतिहास के निर्माण के लिए जागरूक रहना और जागरूक बनाए रखना आवश्यक है। स्त्री-जाति के समता-सम्मान और स्वाधीनता के लिए संघर्ष ही एकमात्र औज़ार है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्वाधीनता के ये मूल्य स्त्री-वर्ग को अर्जित करने होंगे। यह खैरात में उन्हें मिलना असंभव है। क्योंकि पुरुषों के समक्ष स्त्री महज उसकी अनुगामिनी ही है। वह कभी पुरुषों के सम्मुख बतौर मनुष्य रूप में पहचानी ही नहीं गई। सुशीला टाकभौरे ऐसे समाज के पुरुषों से सीधे पूछती हैं : "साथी का दम भरने वाले / स्वामी / तुमने उसे कब पहचाना? / क्यों कहते हो नारी को / मानव-समाज का गहना! / चंदन वन की साख / मटियारे चूल्हे में जलती रही / नारी की परीक्षा / वह हर पल देती रही।"[42] स्वामी, मालिक, परमेश्वर और परमपिता आदि का दंभ भरने वाला पुरुष

वर्ग स्त्री की अपवित्रता और उसके चरित्र को समय-समय पर लांछित करते आया है। इतिहास हो या मिथ सभी स्थानों पर स्त्रियों को ही पवित्रता की अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी है ; कभी किसी पुरुष के लिए अग्नि-परीक्षा का विधान हमारे समाज या हमारे शास्त्र ने नहीं बनाया है। स्त्री-कविता के सभी हस्ताक्षरों ने इन मिथकीय एवं ऐतिहासिक स्त्री-चरित्रों को अपनी कविता में स्मरण किया है।

हिंसा की इन आदिम अनुभूतियों को स्त्री-कवियों का मानस सहसा अपनी चेतना में उतार लेता है। यही कारण है कि समकालीन हिंदी स्त्री-कविता का पूरा दृश्य-परिदृश्य जातीय-हिंसा, अस्मिता की तलाश और पौरुषिक बर्बरता आदि महत्त्वपूर्ण मुद्दा बनकर उभरता है। सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान के भाव से उठने वाली आवाज़ें जब कविता का रूप लेती हैं तो वह कोई प्रतिशोध या सत्ता की आकांक्षा नहीं करतीं, बल्कि एक समतामूलक समाज की—सकारात्मक मूल्यों के बराबरी व्यवहार पर तथा इंसानी तहजीब पर बल देती हैं। लगभग सभी कवयित्रियों ने पुरुषों से साझा साहचर्य की ही अपेक्षा की है। समाज में जो मूल्य और महत्ता भाईचारे का है ; बहनापा भाव को भी उसी के सामानांतर रखा जाना चाहिए। इसके साथ ही स्त्री-जाति से उम्मीद की जाती है कि वह पितृसत्ताकीलित आचरण और सोच से बाहर निकले। अपने अधिकारों-आत्मसम्मान के प्रति सचेत हों। पितृसत्तात्मक आचरण और अलंकरण उन्हें पुनः मध्ययुगीन दासी-वैश्या और गुलामी की ज़ंजीरों में ही कैद करेगा। स्वाधीनता के मूल अर्थों को जाने बगैर स्वाधीनता अथवा आधुनिक होना संभव नहीं है। अपने भीतर निहित शक्ति के मूल स्रोतों को रचनात्मक रूप देकर ही अपने आत्म-विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है। सुशीला टाकभौरे अपनी एक कविता 'जलप्लावन करना है' में स्त्री की अंतर्निहित शक्तियों को विराट चेतना का पुंज मानती हैं जिसके लिए इस दुनिया में कुछ भी करना असंभव नहीं : "नारी / तुम शक्ति हो! / केवल समिधा नहीं, / स्वयं में पूर्ण महायज्ञ हो! / केवल शरीर नहीं, / जिनका धर्म गलना सड़ना / या मात्र नहीं किसी की भूख मिटाना! / ओ

मूकप्राणी / जीवनदाता! / तुम पंचतत्व पूर्ण जीवन हो!"[43] यह आह्वान स्त्री की जातीय स्मृतियों का उच्चतम बोध है जो स्त्री को सम्पूर्ण सृष्टि में अपने होने के बोध को स्पष्टता से लक्षित करता है। कवयित्री स्त्री-जीवन की कृत्रिम बंधन अथवा सीमाओं के अतिक्रमण पर ज़ोर देती है, उसे प्रश्नांकित करती है।

स्त्री-व्यक्तित्व को केवल शरीर या समिधा और धर्म की दासी मानने वाली विचारधारा से स्वयं को कवयित्री अलग करती है। मनुष्यत्व के मूल से अपनी अस्मिता को जोड़ती है तथा स्त्री-जाति के स्वतंत्र अस्तित्व को स्थापित करती है। अपनी कविताओं को विशुद्ध कविता से अधिक उसे जातीय अस्मिता से जोड़कर देखने की गुजारिश करने वाली आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल भी अपनी कविताओं में आदिवासी स्त्री की स्वाधीन चेतना की उद्घोषक हैं।

स्त्री-कविता की ऐतिहासिकता और जातीय स्मृतियों की पहचान स्त्री-कविता के इन विविधवर्णी रंगों से ही बनती है। अलग-अलग वर्णों-वर्गों तथा क्षेत्रों से उभरे इन स्वरों की आंतरिक लय एक ही है। मुक्तिकामी चेतना का आह्वान और सुंदर समाज का स्वप्न। स्त्री-जीवन की सभी रंग-बेरंग छवियाँ जातीय स्मृतियों को पुष्ट करती हैं ; स्त्री के इतिहास की यात्रा स्वयं एक इतिहास बनते जाती है। स्त्री-कविता ने इन ऐतिहासिक-विवरणों को कविता के रूपक में सँजोया है। स्त्री-कविता में विविधता भरे समाज को देखने की स्त्री-दृष्टि ने पुरुष की दुनिया व कार्य-व्यापार को भी एक नैरेटिव दिया है। यह नैरेटिव समाज के दो महत्त्वपूर्ण लिंग/जेंडर के अंतर्संबंधों को समझने का सुदृढ़ आधार देती है। स्त्री-पुरुष संबंधों के साझा चित्र बनते-बिगड़ते और निखरते हैं। गगन गिल हो या कात्यायनी अथवा अनामिका आदि सभी कवयित्रियों ने अपने सामाजिक-सांस्कृतिक बोध से स्त्री-जाति के ऐतिहासिक वृत्तों को नवीन अर्थ दिया है। यह नवीनता आधुनिकता की ही देन है। स्त्री-कवियों ने जिस आमफ़हम भाषा को अपनाया है वह भी इस नवीन चेतना के अनुरूप ही आकार लेती है। गगन गिल की 'थपक थपक दिल थपक थपक' की भाषा इसका प्रमाण है। इसकी भाषा और अंतर्वस्तु में स्त्री के मन के स्वछंद

को साफ देखा जा सकता है। कात्यायनी की कविता इस फहरिश्त में और भी व्यापक रूप लेती है। वह स्त्री-जाति के कथ्य के बहाने सम्पूर्ण पुरुषतांत्रिक सामाजिक-राजनैतिक तथा धार्मिक गुत्थियों को टटोलती है। पुरुषवाद के भीरु-दंभी स्वरूप को उजागर करती है जिसने सदियों से स्त्री-जाति के लिए हजारों नियमों को उसके शरीर पर लादकर उसे बंदी बनाए रखा है। कवयित्री अनामिका ने इस कार्य को कथा का रूपक देते हुए उसे रसोन्मत्त बनाया है। लोक-तत्त्व की लय उसका अगाध मानवतावादी स्वरूप उनकी कविताओं को वैश्विक रूप देती है। स्त्री-कविता की ऐतिहासिकता और जातीय स्मृतियों का एक बड़ा कैनवस अनामिका की कविताओं में सम्बद्ध है। अनामिका के साथ ही शुभा, अनीता वर्मा, नीलेश रघुवंशी की काव्य-यात्रा में भी स्त्रीत्व और उससे जुड़ी जातीय स्मृतियों के तत्व मौजूद हैं। शुभा की काव्य-संवेदना वहाँ प्रकट होती है जहां तथाकथित सुसभ्य-सुशिक्षित समाज स्त्री-जाति को कुंठित नज़र से देखता है ; चार-दीवारी के भीतर उसकी पहचान को कुचलकर उसे एक पण्य-सामग्री बनाकर रखता है। अनीता वर्मा की कविताएं भाषा और मानवीय संवेदना से छिटके संवेदन तंतुओं को पिरोती हैं। 'बूढ़ानाथ की औरतें', 'माँ का हाथ', 'स्त्री का चेहरा' आदि कविताओं में विन्यस्त स्मृतियाँ उसके इतिहास का ही रूपक है। जैसे हम नीलेश में पारिवारिक संवेदन तंतुओं को सजीव रूप से चित्रित होते देखते हैं। अनीता वर्मा की काव्य-संवेदना अपने भीतर के अदीखे को सिरजती है। नीलेश रघुवंशी की कविताएं केवल स्त्री-जाति ही नहीं बल्कि समाज के साधारण जन को भी उसी शाइस्तगी से कविता में लाती हैं।

स्त्री-कविता के विविध स्वरों में आबद्ध स्त्री की ऐतिहासिक यात्रा साहित्य के स्त्री स्वर को एक नयी पहचान देती है जो लैंगिक से अधिक सामाजिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष का द्योतक है। समाज के विभिन्न वर्णों-वर्गों के साथ ही मौजूदा समाज में स्त्रियों की स्थिति का एक आभास इन कविताओं से मिल जाता है। जातीय स्मृतियों से प्राप्त अनुभव ज्ञान एवं लोकाचार स्त्री-समाज को एकसूत्र में बाँधता है। स्त्री-कविता में आए हाशिए के समाज को पूरी प्रामाणिकता से लाने

वाली दलित स्त्री-कवि हो या आदिवासी स्त्री-कवि आदि सभी ने अपने समाज के महनीय-महयसी स्त्री-चरित्रों/व्यक्तित्वों का स्मरण अपनी कविता में बार-बार किया है। ये ऐतिहासिक चरित्र मौजूदा समय में उन्हें संघर्ष के लिए—सामाजिक-राजनैतिक न्याय के लिए प्रेरित करते हैं। अपने समाज के साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र का उत्थान उनकी दृष्टि की व्यापकता को विश्वव्यापी बनाता है। इस दृष्टि से स्त्री-कविता अपनी यात्रा पर अग्रसर है।

iii. वैश्वीकरण और स्त्री-कविता :

1960 के दशक में समाजशास्त्रियों द्वारा प्रयोग में लाए गए शब्द वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण व्यापक अर्थों में आठवें-नौवें दशक में विश्व के बड़े अर्थशास्त्रियों के लिए अर्थनीति बनकर उभरे। वैश्वीकरण की विस्तारवादी तथा कथित सुधारवादी नीतियों ने पूरे विश्व में राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर व्यापक परिवर्तन की लहर को गति दी। 'वैश्वीकरण' शब्द पिछले दो दशकों से विद्वानों के बीच गहरे मतभेद का विषय बन चुका है जिसमें इसके सकारत्मक और नकारात्मक प्रभावों को देखा जाता है। 'हिंदी साहित्य ज्ञानकोश' के अनुसार "वैश्वीकरण (Globalization) का लक्ष्य दुनिया को एक मुक्त बाजार व्यवस्था के रूप में विकसित करना है। यह बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों के अनुकूल वैधानिक और भौतिक स्थितियाँ तैयार करना है, भले ये देश की राष्ट्रीय संस्कृतियों के प्रतिकूल हों। वैश्वीकरण ने विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व व्यापार संगठन को इस समय दुनिया की सबसे मजबूत संस्थाएं बना दी हैं। इन्होंने पूरी स्थिति बदल दी है। आमतौर पर नागरिकता राष्ट्र की सदस्यता है, लेकिन बाजार में नागरिकता के बजाए उपभोक्ता ही वैश्वीकरण की सदस्यता के मानकों को पूरा करता है। यह नयी आर्थिक संरचना दुनिया को नए स्तर पर अपने तरीके से तैयार कर रही है। इसके लिए सूचना क्रांति का उपयोग किया गया है। इसने दुनिया की विविधता को एक सलाद के रूपक में बदल दिया।"[44]

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस मुक्त व्यापार नीति ने देश के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्रों को प्रभावित किया है। देश की आम जनता को एक इंसान से उपभोक्ता में बदल दिया गया है। सूचना क्रांति इसका सबसे बड़ा हथियार है जिसके जरिए इसने समूचे वर्ग के चेतनागत मूल्यों को पतन के कगार पर ला खड़ा किया है। मानवीय संबंधों का आधार अब अर्थ (money) तय करता है। अमीरी-गरीबी की दरारें और भी लंबी होती गयीं। देश ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व की आधी आबादी को अवसर की सूरत में एक नया पूंजीवादी

पितृसत्ता का उपनिवेश बनाया गया। विचार के स्थान पर उसके शरीर और रूप-सौंदर्य को सराहा गया। नौवें दशक में स्त्री-कवियों का एक वर्ग इस दोहरी नीति को समझ रहा था। कात्यायनी, अनामिका, गगन गिल, अनीता वर्मा, नीलेश रघुवंशी आदि कवयित्रियों ने इस पूंजी केन्द्रित बाजारवादी व्यवस्था की दुर्नीतियों के खिलाफ चिंता जाहिर की है। अनीता वर्मा की 'भय', 'ईर्ष्या', 'बहस', 'नीम का पेड़' आदि कविताएं वैश्वीकरण के अवसरों के नाम पर शोषण की नवनीति को 'बहस' के केन्द्र में लाना चाहती हैं : "गाँव वालों ने लूटा अन्न का गोदाम / यह आज की प्रमुख ख़बर है / मैं सोचती हूँ अन्न के बारे में / अन्न से भी पहले फल थे / पेड़ों के झुके हुए सर इन्हें सौंप देते थे बिना दाम / पहले पालतू बने पशु फिर स्त्रियाँ / मंडियों में शुरू हुआ धन और अन्न का कारोबार / यहीं से पैदा हुई भूख से इनकी दूरी / सौदागर सत्ताधीश इस पर करते थे शासन / बनी नानक की रोटी से गिरते ख़ून की कहानी।"[45] अन्नदाता को अन्न से विरत रखना एक महात्रासदी है। व्यवस्था की कूटनीतिक नीतियाँ जिनमें पशु, मनुष्य और पेड़-पौधे तक का कारोबार होने लगे तो निश्चित तौर पर यह मनुष्यता के खत्म होने का संकेत है। कवयित्री ने प्रकृति से दूरी बना चुकी इंसानी तहज़ीब को उसके अमानवीय कृत्यों के लिए फटकारा है। पितृसत्ता-धर्मसत्ता और पूंजी केन्द्रित व्यापार के तले स्त्री को 'पालतू' बनाना स्त्री की प्राकृतिक और मनुष्यता की गरिमा को नष्ट करना है। धन और अन्न के कारोबार ने भूख को जन्म दिया जिसके हिस्से मौत लिखी जा रही होती है। सत्ताधीशों की यह संवेदनहीनता उनकी परम स्वार्थलिप्सा को उद्घाटित करती है। ठीक उसी तरह बाजारवादी नीतियों ने सौहार्द की पूरी निष्ठा को निष्ठुरता से 'ईर्ष्या' में बदला है। 'विज्ञापन' जगत उस चकाचौंध में पूरी मिठास के साथ स्त्री-वर्ग को पुनः उसी सीमित घेरे में रखने की कवायद है जिसका पुरुष वर्ग सदैव आग्रही रहा है। विज्ञापनों, फिल्मों, टेलीविज़न के विभिन्न दुपहरिया धारावाहिकों आदि में स्त्री के गृहिणी रूप को आवश्यकता से अधिक उभारना स्त्री को पुनः उसी पुरुषवादी जंजीरों में बाँधना है। यह पूरी प्रक्रिया स्त्री-सत्ता की मूल चेतना को नकारना और स्त्री के लिए नव-उपनिवेश के घेरे को

तैयार करना है। बाजारवाद के सभी प्रकरण, उपकरण आदि अंततः स्त्री को या तो कुशल गृहिणी के रूप में अथवा एक पण्य वस्तु के रूप में बदल रहा है। ऐसा कोई भी कार्यक्रम बमुश्किल दिखता है जिसमें स्त्रियों को शिक्षित, सशक्त और अपने अधिकारों के प्रति सचेत करने की सीख सही मायने में दी जा रही हो।

वैश्वीकरण-उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारतीयता एवं उसकी विविधताओं को विभाजन व दरारों में बदल दिया। अच्छा-बुरा, सुंदर-कुरूप आदि के साथ ही लोगों में घृणा का भाव भी जगाया है। वह सबको बाजार के गिरफ्त में ले लेना चाहता है। लोगों के कपड़े, रहन-सहन, खान-पान, घरेलू-बाहरी प्रयोग की वस्तुएं आदि सभी का चुनाव वह स्वयं न कर बाजार के अनुरूप, 'विज्ञापन' के अनुरूप करें। इस उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री केवल 'देह' भर है, एक जीवित-सांस लेती हुई 'बेबी डॉल' जो दूसरों के इशारों पर चलती है, बोलती है और चुप रहती है। पूंजीवादी-बाजारवादी फ्रेम में गढ़ती है। 'औरत' या 'स्त्री' जैसे ही उस फ्रेम को तोड़ती है बदचलन, वेश्या, कुलटा, पतिता आदि बन जाती है : " "अपनी जगह से गिरकर / कहीं के नहीं रहते / केश, औरतें और नाखून"- / अन्वय करते थे किसी श्लोक का ऐसे / हमारे संस्कृत टीचर।"[46] 'अपनी जगह से गिरकर' अर्थात पितृसत्ता ने स्त्रियों के लिए जो जगह बनायी है, जो आचार संहिताएँ गढ़ी हैं, जिन मान्यताओं-अलंकरणों आदि को उन पर थोपा है उससे यदि स्त्री बाहर निकली तो हंगामा खड़ा हो जाएगा। परम्पराएँ, संस्कृतियाँ, संस्कार आदि जीर्ण पत्तों की तरह झड़ जाएंगी। इस असंवेदनशील अन्वय कथा को धर्म, परंपरा और संस्कृति आदि ने ही नहीं बल्कि पूरी शिक्षा-व्यवस्था ने भी पोषित किया जिसे पढ़कर मर्द और अधिक मर्द बने और स्त्रियाँ और अधिक मजबूर :" "राम पाठशाला जा! / राधा, झाड़ू लगा! / भैया अब सोएगा, / जाकर बिस्तर बिछा! / अहा! नया घर है! / राम, देख, यह तेरा कमरा है! / और मेरा?" / "ओ पगली, / लड़कियां हवा, धूप, मिट्टी होती हैं / उनका कोई घर नहीं होता!"[47] पाठ्य-पुस्तकों के मारफ़त स्त्री को एक परिधि में बाँधना, उसके मनोविज्ञान को बाल्यकाल से ही परायेपन का

बोध कराना तथा पुरुष की सुरक्षा और संरक्षण ही एकमात्र आसरा है, आदि धारणाओं को पल-पल उसके दिल-ओ-दिमाग में गूंथना ही नए प्रकार के शोषण की रीत है।

कवयित्री अनामिका की सूक्ष्म दृष्टि भाषा की उस महीन बुनावट को पकड़ लेती है जिसके सहारे वर्षों से पुरुषवादी-मर्दवादी संस्कारों को स्त्रियों के भीतर उतारा गया, उसे भयभीत बनाकर उस पर शासन किया जाता रहा। उनकी 'स्त्रियाँ', 'मौसियाँ', 'एक औरत का पहला राजकीय प्रवास', 'आम्रपाली' आदि कविताएं नौवें दशक के बाद लिखी गई कविताएं हैं जिनमें बौद्धिक चेतना के साथ सामंतवादी नीतियों से संरक्षित बाजारवादी नीतियों का स्त्रियों के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों की खरी आलोचना हुई है। 'हँसी नए जमाने का घूँघट है' और 'वृद्धाएं धरती का नमक है' या 'मौसियाँ' आदि प्रसंग उस व्यवस्था की कर्मनाशा हार की पताका को दिखलाता है जो आया तो था पूरे विश्व को जोड़ने के लिए, लेकिन अंततः वह पूरी मानवीय संवेदना को तोड़कर छिन्न-भिन्न कर रहा है : "बीसवीं शती की कूड़ागाड़ी / लेती गई खेत से कोड़कर अपने / जीवन की कुछ जरूरी चीज़ें- / जैसे मौसीपन, बुआपन, चाचीपंथी और अम्मागिरी मग्न / सारे भुवन की।"[48] बीसवीं सदी में मानवीय संबंध, संवेदनाएं और सांस्कृतिक विरासत आदि विध्वंस की गाड़ी बन चुके हैं जो अनवरत परिवार, समाज और राजनीति को खोखली कर रहे हैं। बाजार की चकाचौंध, राष्ट्र की अमानवीय नीतियों ने अपने दुर्भिक्ष विकास के लिए स्त्रियों के शरीर, मन-मस्तिष्क का दोहन सभी स्तरों पर पुरजोर किया है। वेश्यावृत्ति, घरेलू हिंसा, यौन-उत्पीड़न, बलात्कार, हत्या और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्त्रियों की खरीद-फरोख्त के पीछे बीस वर्षों के आँकड़ों में जिस तरह से वृद्धि हुई है, वह चौंकाने वाली है। जिन राष्ट्रों ने कभी स्त्री-उत्थान के लिए नए-नए कानून बनाए, उन्हें संवैधानिक अधिकार दिलाए, उनकी संघर्ष-चेतना को समझते हुए उन्हें मनुष्य होने की तालीम सिखाई। आज उन्हीं राष्ट्रों ने स्त्री-समुदाय को अधिकाधिक लाभ कमाने का एक टूल बना लिया है। अनामिका अपने लेख ('त्रिया चरित्रां : 'उत्तरकांड') में लिखती हैं "... आज वही राष्ट्र बाजार की गिरफ्त में आकर

औरतों की नाक में दम किए है। पूरी दक्षिणेशिया औरतों की देह और उसका श्रम बेचकर अपना GNP बढ़ाए जा रही है! (2000 का यह डाटा है, सिर्फ थाइलैंड और फिलीपींस एड्समीत देशों में 20 लाख स्त्रियाँ बेचीं गईं जिनमें 8,00,000 छोटी बच्चियाँ थी।) घरेलू नौकर के रूप में या यौन-दासी के रूप में ये बच्चियाँ जो वहाँ झेलती है, उनकी कविताएं और कहानियाँ आती हैं, आ भी रही हैं।"[49] बाजार और उद्योग संस्कृति की अंधी स्वार्थलिप्सा ने किस कदर मनुष्यता को नष्ट किया है, इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। एक तरफ स्त्री-देह का उपभोग उसका व्यापारीकरण, छोटी बच्चियों को घरेलू नौकर और यौनदासी आदि बनने-बनाने के लिए मजबूर करना और दूसरी तरफ उनके आत्मकथ्य का, अनुभूतित यथार्थ का कविता-कहानियों के रूप में आना यह दर्शाता है कि स्त्रियाँ क्यों अंततः कलम को अपना अंतिम औज़ार मानती हैं।

पुरुष शासित-संचालित इस दुर्ग को कवयित्री कात्यायनी ने भी अपनी कविताओं में दर्ज़ किया है। पौरुषिक क्रूरता को-उनकी हिंसक भावनात्मक शब्दावली को उन्हीं की भाषा में जवाब देती है। 'पौरुषपूर्ण समय' और 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' जैसे पदबंध उसी हिंसाविह्वल वृत्ति की जवाबदेही है। 'एक अभूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना', 'औरत और घर', 'तर्क के बारे में', 'कहाँ चले खुसरो', '...वे अपना मृत्युलेख लिखते हैं', 'भूमंडलीकारण का शास्त्रीय संगीत', 'हमारे समय में कुछ काव्य-विस्मृत शब्दों और क्रियाएँ' आदि कविताएं भूमंडलीकरण के भँवर में फंसी इंसानियत की शिनाख़्त करती हैं। स्त्री को इस भँवर का सबसे बड़ा जाल बनाए जाने पर कवयित्री सत्ता-व्यवस्था में बैठे दुर्गपतियों से व्यंग्य स्वरूप गुहार लगाती है ; उसके मर्दवादी दंभ पर करारा तमाचा जड़ती है। कवयित्री उस मानव विरोधी शर्तों पर प्रश्न उठाती है जो स्त्री को, उसके शरीर को अपनी शर्तों पर बेचते हैं। वे शर्त जिसमें स्त्री उनके मानकों के अनुरूप सुंदर हो, पतली हो, जवान हो और कथित तौर पर बोल्ड हो, कामुक हो आदि-आदि। 'एक अभूतपूर्व नगरवधू की दुर्गपति से प्रार्थना' कविता उन्हीं अमानवीय शर्तों पर प्रहार करती है। पूरी कविता में एक भावनात्मक तादात्म्य बना रहता है। स्त्री की अपनी पहचान का बोध उसे

जंजीरों में बंधे रहने में विचलित करता है। स्वतंत्रता का बोध जीवन-दृष्टि के बोध को जन्म देता है। अतः कवयित्री उस नगराधिपति से अपनी स्वाधीनता की मांग करती है : "सिर्फ एकबार दुर्ग के द्वार खोल दो, दुर्गपति! / प्रार्थना मुझ दुखियारी की सुन लो / नगराधिपति! / मैं अदृश्य परकोटों-बुर्जोंवाले इस महानगर से / बाहर जाना चाहती हूँ, / ध्वनि और प्रकाश के अहर्निश जारी क्रम में / मैं एक अनुगूँज या छाया तक भी / नहीं बनना चाहती, / अब इस शोर और चौंधियाती रोशनी से / मैं दूर जाना चाहती हूँ। / इस मीनाबाजार में मेरा दम घुट रहा है। / मुझे मुक्त कर दो दुर्गपति, / वैसे भी मेरा यौवन अब ढलान पर है।"[50] नगरवधू की प्रार्थना समस्त फैशनपरस्त, रंगीन दुनिया में फंसी-फंसायी गई स्त्रियों की गुमशुदगी और चुप्पी की मुक्ति का प्रलाप है। बाजारवादी पूंजीवादी शोर और चौंधियाती रोशनी के पीछे क्रूर अंधेरे और अमानुषिक वृत्तियों का काला सच 'सुंदर' जैसे दिख रहे चेहरे की असलियत नहीं है। क्रूरता का लिबास ओढ़े यह 'मीनाबाज़ार' सबको एक संवेदनहीन पण्य वस्तु और भोगवादी प्रवृत्ति का शिकार बना जाता है। इस जकड़न से निकलना आसान नहीं है। दुर्गपतियों की फाँस उसे बांधे रखती है। अब की चेतनशील स्त्री उस फांस को समझ चुकी है इसलिए वह साफ मना करते हुए उस जंजाल से निकल जाना चाहती है। अपने स्वत्वबोध से वह स्वयं को अब पा लेना चाहती है। यह बोध उसके यौवन के ढलान पर होता है जो कि उसके अंतःकरण को धिक्कारता है, जीवन के मूल अर्थों की ओर ले जाता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की चेतना को उद्दीप्त करता है। वह स्त्री मदनोत्सवों, राजपुरुषों, श्रेष्ठियों, अभिजनों की सेवा, कामातुर नागरिकों को उन्मत्त, पुष्पक विमानों की यात्रा, महाजनों की सेवा, ग्राहकों को प्रसन्न, मधुशालाओं की शोभा बढ़ाते, नृत्यशालाओं में नृत्य, कलावंतों की प्यास बुझाते, दूरदर्शन पर सौंदर्य-प्रसाधनों का विज्ञापन आदि तमाम पौरुषिक वासनायुक्त ग्रंथियों को पूरा करते-करते थक चुकी है। अब वह उस पौरुषपूर्ण शिविर से बाहर निकलना चाहती है। पितृसत्तात्मक ग्रंथियों को शरीर से, मन से, आत्मा से उतार फेंकना चाहती है इस संकल्प के साथ कि "उनके शिविरों से मैं पार निकल

लूँगी / कुछेक वर्षों का नर्क झेलकर / मैं जीवित रहूँगी / क्योंकि अभी भी मैं जीवित रहना चाहती हूँ दुर्गपति, / नहीं, अब यह कहना उचित होगा कि / अब मैं जीवित होना चाहती हूँ दुर्गपति, / मुझे जाने दो / मैं अपनी पहचान तक जाना चाहती हूँ / अपनी अस्मिता तक जाना चाहती हूँ मैं।"[51] अपनी पहचान, अपनी आत्मा और अपनी अस्मिता तक जाने का संकल्प ही वास्तव में स्त्रीत्व तक, मानवसत्त्व तक जाना है। नगरवधू की यह आकांक्षा समस्त विश्व की पीड़ित स्त्री-वर्ग की आकांक्षा है। आत्मबोध एवं अस्मिताबोध द्वारा ही नवीन स्त्री अपनी मनस्वी छवि को गढ़ सकती है। पूरी कविता में प्रार्थना शैली स्त्रियों की पराधीनता की एक-एक कड़ी को खोलती है। नगरवधू की यह प्रार्थना-यात्रा परतंत्रता से स्वतंत्रता की, अमानुषिकता से मनुष्यता की, शोषण से मुक्ति की और मृत संवेदना से जीवन-सौंदर्य की यात्रा है। प्रकृति के अन्तःकरण में पुनः बसने की यात्रा है। पितृसत्ता की दीवारों को तोड़ने और नवीन आसमान बनाने की यात्रा है। कविता अपनी लय में क्रमवार ढंग से स्त्री-जीवन के समस्त पहलुओं की तल्खियों को उजागर करती हैं।

वैश्वीकरण एक ऐसा शोर है जिसमें न किसी की आवाज़ स्थिर है और न स्पष्ट! एक ऐसा कोलाहल जिसमें एकसाथ सभी बोल रहे हैं। देखने में यह जितना आकर्षक दिखता है, अपनी असलियत में वह उतना ही विकर्षण पैदा करता है। कात्यायनी इस शोरगुल या चिल्ल-पों को 'भूमंडलीकरण का शास्त्रीय संगीत' व्यंग्यात्मक कविता में शब्दबद्ध करती हैं। स्त्री-कविता उस आपाधापी के खेल में जकड़ी स्त्री और समस्त मानव जाति के पीड़ित अंतर्द्वंद्व को एक बड़े आख्यान के रूप में रचती है। बाजारवादी संस्कृति की नव-साम्राज्यवादी नीतियों ने निम्नवर्ग तथा दलित-आदिवासी समुदायों की जीवन-शैली और उनकी संस्कृति आदि में निम्नमध्यवर्ग, मध्यवर्ग के आम जीवन की दास्तानों को कविता के विभिन्न रूपकों द्वारा परिचित कराने वाली कवयित्री नीलेश रघुवंशी, रंजना जाएसवाल, शुभा आदि बाजार और टेलीविज़न जगत की क्रूर सौंदर्य-नीतियों को उजागर करती हैं। टेलीविजन की दुनिया ने मनुष्य की सोचने-समझने की

क्षमता को बहुत प्रभावित किया है। बाजार की नीतियों के अनुकूल ही वह उपभोक्ता की सोच-समझ को, उसके दृष्टिकोण को बदलने में कामयाब होता है। चाहे वह अधूरा ज्ञान का विस्फोट करना हो, सुरक्षा के नाम पर अपराध की नयी-नयी तकनीकों को बढ़ावा देना हो, पारिवारिक-सामाजिक संबंधों, धार्मिक-जातिगत संबंधों तथा नस्लीय-रंगभेद संबंधी अंतरों को पाटने के नाम पर उसके मध्य हीनता को बढ़ावा देना आदि साम्प्रदायिक भावना को मजबूत करना ही क्यों न हो ; सभी जीवन शैलियों में बाजार ने अपनी पैठ मजबूती से बना रखी है। हालांकि इसके सकारात्मक प्रभाव भी समाज पर हुए हैं जो अधिक समय तक कारगर नहीं हो पाए। सत्ता-व्यवस्था भी इन नीतियों का अपने पक्ष-विपक्ष में लाभ व वोट-बैंक हेतु लाभ लेती है। आम जनता, किसान, मजदूर, छोटे व्यवसायी आदि वर्ग की समस्याओं को बाजार की चौंधियाती नीतियों ने बढ़ा दिया है। आज किसान अपनी फसल की कीमत भी नहीं जुटा पा रहा, किसान-आत्महत्या के बढ़ते आँकड़े सत्ता की उदासीनता को दर्शाते हैं, श्रमिक वर्ग को उचित श्रम-मूल्य नहीं मिल पाता, छोटे व्यवसायी बहुराष्ट्रीय उद्योग नीति और मॉल कल्चर के बढ़ते प्रभाव के कारण व्यावसायिक अवनति का सामना कर रहे हैं। नीलेश रघुवंशी की कवि-दृष्टि इन असमानता की खाइयों को बढ़ाने वाली नीतियों और उससे पीड़ित जनता के दर्द को देखती-समझती है। उनकी 'किसान', 'लोग कहते हैं', 'शोर', 'बेघर', 'तीसरा एस. एम. एस.', 'हिकारत' और 'लोकतंत्र का तानाशाह' आदि कविताएं उसी मनो-सामाजिक रूप को दिखाती हैं जिनसे जनता बेहाल है। बेरोजगारी, विस्थापन, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, आपराधिक षड्यंत्र आदि ने समाज में पहले से अधिक भय का माहौल पैदा किया है। विस्थापन और 'बेघर' होने के दर्द को बया करती नीलेश की एक छोटी कविता बहुत ही मार्मिक प्रभाव छोड़ती है : "शहर में कार को अपना घर बनाए / बेघर आदमी को / कार के नहीं, घर के सपने आते हैं।"[52] बाजार और वैश्वीकरण की आँधी ने लाखों परिवारों को 'बेघर' किया है। कवयित्री की दृष्टि विस्थापित मजदूर, संघर्ष करते किसान, अपनी लड़ाई लड़ते समाज के अन्य तबके को भी

कविता के केंद्र में लाती है। गृहस्थ जीवन के दुख और सामंजस्य भावना पर उनका यह प्रश्न कि "क्या गृहस्थ जीवन में आते ही कट जाता है आदमी आसपास से? या उसका अपना नहीं, ये संसार?"[53] सोचने पर मजबूर करता है कि आखिर क्यों गृहस्थ जीवन अपने ही दायरे में सिमट कर रह जाता है। उसकी आकांक्षाएँ, समाज व राष्ट्र की आकांक्षाएँ क्यों नहीं बन पातीं? अथवा क्यों नहीं वह उन्मुक्त भाव से अपने समाज के लिए कुछ करने योग्य नहीं रह पाता? आदि-आदि। नीलेश जितनी स्वयं व्यावहारिक हैं, उनका काव्य-चिंतन एवं कविताएं भी उतनी ही व्यावहारिक धरातल को छूती हैं लेकिन जब भी लैंगिक भेदभाव और दोहरी नीति नज़र आती है कवयित्री वहाँ दोटूक कहने से पीछे नहीं हटती। स्त्रियों को दिखावटी 'शो-पीस' बनाने वाली सामंती सोच और व्यवहार पर वह कुठाराघात करती हैं। स्त्री के प्रति बाजारवादी फैशनपरस्त नीतियों और उनके अनुपालन करने वाली स्त्रियों को वह संबोधित करती हैं। वे स्वयं भी इस जंजाल से मुक्त होना चाहती हैं लेकिन इस चकाचौंध से मुक्त होना आसान नहीं है : "सोचती हूँ अब खिड़की से झाँकते / संसार त्यागने से अच्छा है / माया-मोह त्याग कर संसार में रहना / मेरी इस बात पर हँसता है बाजार ख़ूब / खिड़की भी तो है उसी के भीतर / हवाओं से डरी जानवरों तुफान और लहरों से भी डरी / जिससे डरना चाहिए था उसी की गोद में जाकर गिरी....।"[54] कवयित्री भलीभाँति समझ चुकी है 'सोचना और होना' में अंतर है। वह सुविधाओं, अधुनातन विकल्पों आदि की इतनी अधिक पेशकश करता है कि हमारी सोच अंतःलोक में चला जाता है और अंततः हम उसी के वशीभूत होकर रह जाते हैं।

नीलेश की 'फेशियल', 'सुंदरियों', 'तोड़-मरोड़कर', 'नई सदी', 'शृंगार', 'सॉकल', 'सम्बोधन', 'बार-बार' तथा 'यूटोपिया' आदि ऐसी कविताएं हैं जिनमें कभी स्त्री अनायास ही पुरुषवादी सत्ता का संरक्षण करती है, कभी उस सत्ता का प्रतिरोध करती है और कभी वह अपने टूटे हुए सपनों को पुनः जोड़ने की बात करती है। 'यूटोपिया' कविता में स्त्री के आर्थिक पक्ष को जेब के रूपक के सहारे वर्णित किया गया है। जेब (Pocket) का होना महत्त्वपूर्ण है। केवल इस

एक परिप्रेक्ष्य से स्त्री-परतंत्रता को संपोषित करने वाले पुरुषवाद की मंशा की कई परतें खुलती हैं। हम सब जानते हैं कि स्त्रियों के वस्त्रों में जेब नहीं होती। प्रश्न उठता है क्यों? जेब का न होना ही पराश्रित बनाता है। जेब का संबंध मनोविज्ञान एवं शारीरिक कौशल से भी है। कवयित्री इस एक रूपक से स्त्री के आर्थिक इतिहास और वर्तमान की समीक्षा करती है।

कवयित्री गगन गिल ने भी अपनी एक कविता 'एक गऊ मेरे भीतर है' में गऊ के रूपक के सहारे अपने समय की विषाक्त राजनीति और भोथरी हो चुकी नैतिकताओं की आलोचना की है। हिंसक और वासना से भर चुके समाज और उसके पहरेदारों की नजर में साम्प्रदायिक हिंसा और हत्या भी छोटी लगने लगती है। मनुष्यता को तार-तार होते देखना कवयित्री के लिए किसी चुनौती से कम नहीं है। इन परिस्थितियों में, भयाक्रांत माहौल में एक भय मन के भीतर से भी टीस मारने लगता है : "एक गऊ मेरे भीतर है / जिसे कटने का डर है / इस गऊ से अलग / जिसे खिलाया जा रहा है चारा / खींची जा रही है / जिसके साथ फोटो।"[55] गऊ केवल रूपक या प्रतीक नहीं है, प्रकारान्तर से वह एक काल-संदर्भ है जिसमें मनुष्य और मनुष्यता दोनों ही खतरे में है। मारने और बचाने वाला दोनों ही वर्ग मनुष्यता की मूल चेतना से विमुख हो चुके हैं। 'कटने और बचने का डर' ही काल-संदर्भ की भयावहता को, मनुष्य की खूंखार वृत्ति को और भी अधिक आक्रांत कर देता है।

वैश्वीकरण प्रदत्त मुक्त व्यापार और बाजारवाद विश्व के विकसित-अविकसित या अर्द्धविकसित देशों की विविध संस्कृतियों-परंपराओं तथा धार्मिक कृत्यों को भी पूंजी केन्द्रित कर लाभ कमाने की तैयारी में है। स्त्री-कवियों ने वैश्वीकरण की इस अथाह लाभनीति, प्रकृति विरोधी अंधलिप्सा को अहिंसक सविनय आंदोलन के रूप में समाज तक ले जाना चाहती हैं। वे बाजार के अदिखे क्रूरताओं को कविता के जरिए उजागर कर लोगों के हृदय में प्रवेश पाना चाहती है। बाजार की चकाचौंध और चौंधियाती रोशनी के बरअक्स प्रेम और विश्वास का एक आत्मदीप जलाना चाहती है जिसकी लौ और शीतलता दोनों ही उस चकाचौंध को चुनौती दे

सके। रंजना जाएसवाल की कविताएं उसी आत्मदीप की निर्मिति का उपक्रम है। वे लिख रही हैं और निरंतर लिख रही हैं। बाजार में रहकर बाजार के खिलाफ एक बुलंद आवाज़ के साथ! स्त्री, प्रकृति और सम्पूर्ण जनमानस के राग और विराग को कवयित्री ने कई रंगों में उभारा है। प्रकृति से उनका खास रिश्ता है क्योंकि वह प्रकृति को स्त्री रूप में ही देखती है ; पेड़-पौधे आदि उनके पारिवारिक सदस्य हैं। बाजारवादी प्रवृत्तियों को उन्होंने कई रूपकों और प्रतीकों में बाँधा है। बाजार से मनुष्य कैसे बंधा है और मनुष्य को कैसे बाजार ने अपने कब्जे में ले रखा है ; इसका सिलसिलेवार अनुशीलन कवयित्री ने 'बाजार' सीरीज की कविताओं में किया है : "बाजार / एक चरखा - / कत रहा जिसमें / सूत की तरह / आदमी।"[56] अथवा "कुछ भी नहीं कर पाते / वे ईमानदारी से / न तो प्यार / न नफरत / वे नायक हैं / न खलनायक / वे जो होते हैं, दिखते नहीं / लगता है बाजार में / अब खालिस चीजें नहीं चलती।"[57] बाजार में मनुष्य के खालिसपन का कोई महत्त्व नहीं है। वह केवल अर्थ की भाषा समझता है। घूर्णन गति के सिद्धान्त पर चरखे की सूत की तरह वह पल-पल कत रहा है। यह विवेकहीन दिशा अपने लोगों, रिश्तों-नातों, सभी तरह के संबंधों को जताना कम, दिखाना अधिक चाहते हैं। मानवीय संबंध हो या उसकी आम दिनचर्या की जरूरी चीज़ें सभी का सैकड़ों विकल्प बाजार उसे देता है। जरूरत न भी हो तो भी एक ही विज्ञापन को हजारों-लाखों बार दिखाकर जरूरत पैदा की जाती है और आदमी उसके अधीन हो जाता है। कवयित्री बाजार के खतरे को व्यापार नीति के संदर्भ में देखते हुए उसे 'स्वतंत्र ताकत' कहती है जो अपने इशारों पर, अर्थ के इशारों पर जनता, संसद, सरकार और आम आदमी को कठपुतली की तरह नचा रहा है : "स्वतंत्र ताकत में बदल चुका है / नचा रहा है कठपुतली की तरह / जनता / संसद / सरकार सबको / रुपया रहमोकरम पर है उसके / रातों-रात बदल सकता है / हमारी जेब में पड़ा / एक रुपये का सिक्का / दस पैसे में।"[58] कवयित्री उस भयावहता और आर्थिक गुलामी से बचने के लिए आगाह कर रही है जिसमें एक समय के बाद सत्ता स्वयं भी बाजारवादी अर्थनीति को नियंत्रित नहीं कर सकती। बाजार अपने बलबूते

किसी भी देश की मुद्रा का एक पल में नाश कर सकता है। इस व्यापार और उद्योग संस्कृति के मंडीकरण-बाजारीकरण ने लोगों की मानसिकता को भी मशीन बना दिया है। वह ब्रांड और विज्ञापन से प्रभावित हो अपनी घर की बनी वस्तुओं को तुच्छ और ब्रैंडवादी सामाग्री को श्रेष्ठ समझता है। इसकी छोटी मिसाल कवयित्री मंडी के कोने में फल के टोकरे लेकर बैठी एक 'गरीब बुढिया' के माध्यम से देती है। लोग उसके पास रुकते हैं ; उसके फलों को परखते हैं लेकिन जब उसे खरीदना होता है तो वह जगमगाती-चमचमाती दुकानों की ओर बढ़ जाते हैं जहाँ वही फल महँगे दामों में बिकते हैं : "मंडी के / कोने में बैठी / गरीब बुढ़िया के टोकरे में / भरे थे / ताज़े.... रसीले फल / लोग आते / देखते सूँघते / और अपने नुकीले नाखून / धँसाकर परखते / उनका टटकापन / फिर बढ़ जाते हैं / जगमगाती दुकानों की ओर / जहाँ चमचमाते फल / महँगे दामों में।"[59] भरे बाजार में उस जगमगाती दुकान और मंडी के किसी कोने में बैठी गरीब बुढ़िया केवल बाजार की अव्यवस्था को नहीं दिखाती है बल्कि वह समाज के उन दो वर्गों की भी वकालत करती है जिनमें संसाधनों की उपलब्धता की खाई बढ़ती जा रही है। इस ब्रैंड संस्कृति ने देश के घरेलू उद्योगों, छोटे-मझोले व्यवसाइयों, हस्तशिल्प आदि दर्जनों प्रकार के स्वदेशी व्यापार को निगल लिया है। लोगों की विश्वसनीयता और क्रय-क्षमता आदि को भी विज्ञापित कर, एक औजार की तरह इस्तेमाल किया जाता है।

रंजना जाएसवाल चूँकि प्रकृति प्रेमी कवयित्री हैं, इसलिए उनका बाजार के बीच खरीद-फ़रोख्त हो रहे पेड़-पौधों की ओर भी ध्यान जाता है। पेड़-पौधों का उन्होंने मानवीकरण कर उसकी संवेदना को उकेरा है। जैसे मनुष्य विस्थापित हो अपनों की पीड़ा को सहन नहीं कर पाते हैं, वैसे ही पेड़-पौधे भी अपने बंधु-बांधवों से विलग होने की पीड़ा को सहन नहीं कर पाते हैं : "बाजार में / नन्हें पौधे / अपनी जमीन / बंधु-बांधवों से अलगाए गए / उदास पौधे / खरीददार को आते देख / पीले पड़ जाते हैं / छूने पर सिकुड़ जाते / मोल-भाव करने पर / एक-दूसरे से लिपट जाते / सुकुमार पौधे / सिर हिला-हिलाकर / सामर्थ्य भर कर रहे हैं / बेचे जाने का विरोध

/ निर्बल निरुपाय पौधे।"[60] इतना मर्मस्पर्शी और हृदयभेदक भाव लिए बाजार को देखना कवयित्री के मौलिक चिंतन की पहचान है। संभवतः रंजना पहली ऐसी कवयित्री हैं जिन्होंने बाजार के बीच पेड़-पौधे को पेड़-पौधे होकर उनसे तादात्म्य स्थापित किया है। पहले अपने ज़मीन से विस्थापित होना, फिर अपने बंधु-बांधवों से विलग होना तदन्तर अपने बेचे जाने का असफल विरोध करना आदि बाजारवादी नीतियों के समक्ष जीवन-दृष्टि की हार है। कवयित्री पेड़-पौधों के रूपक लेकर उन सभी मुक-अमूक जानवरों, पशु-पक्षियों ; यहाँ तक कि मनुष्य की खरीद-फरोख्त एवं उनके विस्थापन की पीड़ा आदि को कविता में दर्ज़ करना चाहती है और उस मनुष्यता को बचाना चाहती है जो मनुष्य के साथ-साथ अमूक पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और जानवरों में भी होती है। उन्हें अपने जमीन पर बने रहने का, अपने बंधु-बांधवों के साथ रहने का हक़ उतना ही है जितना कि एक मनुष्य को है। यह साझापन और 'जियो और जीने दो' का मूलमंत्र ही स्त्री-कविता की साझी विरासत है। प्रकृति और प्रकृति प्रेमी मनुष्य का भी यही जीवन दर्शन है।

वैश्वीकरण और उसके प्रभावों से निर्मित आर्थिक नीतियों का त्रासद रूप दलित और आदिवासी वर्ग पर ही सबसे अधिक पड़ा है। दलित और आदिवासी स्त्री-कवियों ने बाजार के मध्य सस्ते मजदूर और बड़े-बड़े उद्योग हेतु फैक्टरियों आदि के लिए जंगलों की कटाई, गरीबों, बेसहारा आदिवासी लोगों को विस्थापित करना आदि मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित किया है। अछूतोद्धार और विकास के सरकारी पूंजीवादी मॉडल ने दलितों-आदिवासियों के घरों-गाँवों को तबाह कर दिया है। आज भी दलित वर्ग मैले-कुचैले रास्तों पर रहने को, साफ पानी तथा शिक्षा और रोजगार के लिए दर-दर भटक रहा है। आदिवासी समाज के जल-जंगल-जमीन को हथिया कर उन्हें बेघर करने का, विकास और धर्म-परिवर्तन के प्रलोभन आदि से उनके संसाधनों को लूटने का क्रम जारी है। दलित स्त्रीवाद की प्रमुख हस्ताक्षर रजनी तिलक की अनुभवपरक और आत्मपरक-सी लगने वाली कविताएं उन दलित बस्तियों, गंदे नल-कूपों, तालाबों-नालों

के किनारे बसने वाले दलित समाज की गलियों और घरों की यात्रा हैं। तथाकथित सभ्य समाज के लिए दमघोंटू वातावरण में जीवन-बसर करने वाले दलित समाज की स्थिति क्या होगी? यह सोचनीय है। शिक्षा, रोजगार, मान-सम्मान पाने के लिए इन्हें हर दिन संघर्ष करना पड़ता है, स्वयं को प्रमाणित करना होता है बावजूद इसके समाज के कथित मुख्यधारा के लोग इन पर फब्तियाँ कसते हैं, जातिसूचक गालियां देते हैं और दर्जनों प्रकार की यंत्रणाएं देते देखे-सुने जाते हैं। सामाजिक ढाँचे में वर्णवादी व्यवस्था एक जहर की भाँति लोगों में बस गई है जिनसे निस्तार पाना मुश्किल है। इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद दलित स्त्री-कविता अथवा दलित स्त्रीवाद साझा विकास और समान अवसर की बात करता है। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे और रजत रानी 'मीनू' आदि की कविताएं एक ही फ्रेम में रची विभिन्न रंगों की कहानियाँ हैं। कई बार यह भले ही एकरसता उत्पन्न करें लेकिन प्रतिदिन उस यंत्रणा को सहना कितना कष्टप्रद होता होगा? रजनी तिलक ने भी दलित समाज पर पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभावों, उसकी चकाचौंध में गिरफ्त होते अपने समाज के लोगों, विशेषकर अपने समाज की स्त्रियों को सचेत किया है। 'हवा सी बेचैन युवतियाँ' कविता में लड़कियों को उन्हीं असामाजिक तत्वों से सचेत रहने की सलाह देती हैं।

रजनी तिलक की 'शिक्षा का परचम', 'जीवन बदलेगा अवश्य', 'कौन नाच रहा', 'सुंदरता तुम्हारी शान है', 'तुम्हारी आस्थाओं ने', 'योनि है क्या औरत' आदि कविताओं में पूंजीवादी व्यवस्था में दलित समाज के प्रताड़ना की अलग-अलग गाथाएँ संकलित हैं। बुद्ध, अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई आदि क्रांतिकारी समाज-सुधारकों से वैचारिक प्रेरणा लेकर हम अपने समाज का समुत्थान कर सकते हैं। बाजारीकरण में दलित समाज विशेषकर दलित स्त्रियों को बाजारू नियंत्रण में रखने की बात रजनी तिलक को खटकती है। वे अपने ही समान तथाकथित मुख्यधारा वर्ग की स्त्रियों से प्रश्न करती हैं : "पूछती हूँ तुमसे मैं / एक योनि सवर्ण बहिना की / उन्हें अपनी योनि पर / खुद का नियंत्रण चाहिए / तब दलित स्त्रियों की

आबरू पर बाजारू नियंत्रण क्यों? धन्य हो... आपके बहनापे का आप जैसी जिनकी मुक्तिदात्री हों / उनकी मुक्ति क्या? / गुलामी क्या?"[61] यौनिकता संबंधी यह प्रश्न भले ही समस्त स्त्री-वर्ग के संदर्भ में न्यायसंगत हो या न हो लेकिन इतना तो तय है कि स्त्री विमर्श के पैरोकार के बहनापा के दायरे में अब भी निम्नवर्ग की, मजदूर वर्ग की तथा आदिवासी वर्ग की स्त्रियाँ नहीं आ पाई हैं। हालांकि इसके भरसक प्रयास हो भी रहे हैं। नीलेश की कविता 'स्त्री-विमर्श' की चिंता भी यही है। आखिर, घर में आया का काम करने वाली, बाजार में सब्जी बेचती, मजदूरी करती, अस्पतालों, बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में मैला साफ करने वाली स्त्रियों की मुक्ति की बात कब होगी और कैसे होगी? कवयित्री का आक्रोश उस एकरेखीय और चयनवादी बहनापे या मुक्तिदात्री की धारणा से है। वह धारणा जो स्त्री-मुक्ति के नाम पर अति साधारण स्त्रियों को हाशिए पर ही रखना चाहती है। 'कौन नाच रहा है' कविता उसी सामंती मानसिकता की पुष्टि करती है। स्त्री-मुक्ति आंदोलन में मुक्तिदात्री स्त्रियों के सामने बार बालाओं का जिस्म हिला-हिलाकर नृत्य करना, उन्हें रिझाना आदि उसी सामंती क्रूरता को दर्शाता है जिससे मुक्ति के लिए वे बार बालाएँ स्त्री-मुक्ति आंदोलन से जुड़ी थीं।

दलित समाज की समस्याओं एवं सवर्ण समाज का उसके प्रति धारणाओं को एक बड़े आख्यान में रचती हैं सुशीला टाकभौरे की कविताएं। वह पीएचडी धारी होने के बावजूद झाड़ूवाली होने के तंज को आए दिन सुनती हैं, सहती हैं। बाजारवादी और वैश्वीकरण से प्रभावित कविताएं सुशीला टाकभौरे के यहाँ कम हैं लेकिन उससे उपजने वाली समस्याओं को कवयित्री पहले से ही देखती आ रही हैं और उसके लिए व्यापक जन समाज को संबोधित भी करती है : "उदारीकरण / निजीकरण / भूमंडलीकरण के दौर में / श्रम का अवमूल्यन / शिक्षा बहुमूल्य / रोजगार में स्पर्धा / पहचान मिटने का खतरा।"[62] इस संकट से आज लड़ना मुश्किल होता जा रहा है। उन्होंने अपने समाज की जड़ता को झकझोरा है और शिक्षा व सामाजिक परिवर्तन के लिए अभिप्रेरित किया है। कवयित्री की कविताओं की ज़मीन उनका अपना अत्यंत पिछड़ा

और अशिक्षित, कर्मकांड में संलिप्त समाज है जिसमें वैचारिक क्रांति की आवश्यकता है, इसलिए कवयित्री इसी पर बल देती है : "मेरे सामने वह पिछड़ा समाज है जहां शिक्षा का प्रसार उन्नत रूप में दिखाई नहीं देता, जहाँ पूँजी नहीं है या पूँजी रहने पर भी पूँजी का सही नियोजन नहीं जानते, जहाँ रोजगार के पर्याय दिखाई नहीं देते। रूढ़ि-परंपराओं का अंधानुकरण ही जहाँ होता रहा है। शरीर से बलशाली होने पर भी जो मानसिक रूप से निर्बल हैं, फलस्वरूप अपनी स्थिति का सही मूल्यांकन भी नहीं कर पाते। दिशा ज्ञान से रहित उन्हें सिर्फ थोड़ा सा मार्गदर्शन चाहिए। फिर वे अँधेरे से प्रकाश में स्वयं ही चले जाएँगे।"[63]

रजत रानी 'मीनू' की 'अर्थयुग' कविता वैश्वीकरण-बाजारीकरण के युग में दलित स्त्री की अवस्थिति का रेखांकन करते हुए कई सवाल खड़े करती है। वर्ण, नस्ल, जाति, दासता, अशिक्षा और आर्थिक जहालत में फंसी स्त्री या तो धनाढ्य घरों की सेविका हैं या अपने मालकिन के बच्चों की जिम्मेदारियों में फंसी हुई हैं। उसके श्रम का कोई मूल्य नहीं। देश की खुशहाली दलित स्त्री की खुशहाली नहीं बन पाती। बर्तन माँजते, सामान ढोते, अपने बच्चों के हिस्से के दुलार को मालकिन के बच्चों में बांटती, मालिक-मालकिन की गालियाँ सुनती वह कभी अपनी मुक्ति और मेहनताना के रूप में नहीं सोच पाती। उसके श्रम का मूल्य कभी नहीं आँका जाता है। कवयित्री देश की खुशहाल स्थिति में भी निर्धन दलित स्त्री की जहालत को स्मरण करती है : "देश जश्न / मना रहा है / आजादी का / स्वप्न देख रहा है / खुशहाली का / लेकिन फंसी है / दलित स्त्री / वर्ण-जाति अशिक्षा / निर्धनता की दासता के गर्त में / लूट रहा है / उसका श्रम / उसका जीवन / उसका घायल सा वजूद। / अदलिता मालकिन है / अफसरशाह है / दलिता / निरक्षर है, सेविका है।"[64] देश में जश्न-ए-आजादी के बरअक्स वर्ण, जाति, अशिक्षा, निर्धनता, दासता, श्रम का लूटना आदि दलित स्त्री के लिए भीषण त्रासद अवस्था का सूचक है। अपने श्रम का मूल्य व महत्त्व न मिलना दुखद तो है ही लेकिन उसके वजूद का घायल होना अधिक खतरनाक है। देश और समाज का यह संवेदनशून्य रवैया अमानवीयता को दर्शाता है

तथा लोकतंत्र की बुनियाद को कमजोर करता है। अदलिता स्त्री मालकिन और अफसरशाही लिबास ओढ़कर भी अपनी ही जैसी दूसरी स्त्री के उत्थान के बारे में सोचती तक नहीं। वह कभी दलित स्त्री की मेहनत का उचित मेहनताना तक नहीं दे पाती। कवयित्री उस अदिलता बुर्जुआ वर्ग के सम्मुख प्रश्न करती है "किस रानी-सयानी ने सोचा / नौकरानी को मिलें / अवसर समान / किसने चाहा / उसके बच्चे भी पढ़ें / अँग्रेजी माध्यम स्कूलों में / बने महान - / बा इज्ज़त इंसान।"[65] इस 'अर्थयुग' में कवयित्री का यह प्रश्न उन्हें अपने समाज के साथ-साथ उस समाज से भी जोड़ता है जो स्वयं को सुसभ्य, सुशिक्षित और सुसंस्कृत मानते हैं। अवसर की समानता और बा इज्ज़त इंसान बनने का संघर्ष दलित स्त्री निरंतर कर रही है। इस अर्थयुग में विचार और साहस के बल पर ही परिवर्तन लाया जा सकता है। दलित स्त्री-कविता के इन स्वरों के विश्लेषण के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि बाजार, टेलीविज़न जगत और मीडिया ने फिजा को बदलने का एक महीन प्रयास किया है। सामाजिक जागरूकता और लोगों को संवेदनशील बनाने का प्रयास किया है। हालांकि इसमें भी उनका अपना स्वार्थ व लाभ वृत्ति हावी थी लेकिन समाज में इसके सकारात्मक असर भी पड़े हैं। संवैधानिक अधिकारों के तहत हाशिए की स्त्री भी विकास के पथ पर अपना पहला कदम बढ़ा चुकी है।

आदिवासी कवयित्रियों ने भूमंडलीकरण-वैश्वीकरण और मंडीकरण के दुष्प्रभावों को सबसे अधिक अपनी कविताओं में उकेरा है। आदिवासी जगत की भीषण दुर्दशा का कारण सत्ता की औद्योगिक व औपनिवेशिक अर्थनीति है जो बड़े-बड़े देशी-विदेशी उद्योग घरानों के इशारे पर बनती है। आदिवासियत को खत्म करने वाली सत्ता-व्यवस्था की इन नीतियों की आलोचना आदिवासी रचनाकारों ने बखूबी किया है। आदिवासी कवयित्री, लेखक, चिंतक वंदना टेटे अपनी पुस्तक 'वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध' में वैश्वीकरण की कूटनीति की आलोचना करते हुए लिखती हैं : "ग्लोबलाइजेशन यानि फ्री मार्केट इकॉनमी के बाद उभरे कट्टर धार्मिक माहौल में संस्कृतीकरण की इसी प्रक्रिया को अब कई-कई रूपों में

हम सब पर लादा जा रहा है – शिक्षा, साहित्य, सिनेमा और राजकीय हिंसा के सहारे। सरकारी कार्यक्रमों के जरिए! देश के अल्पसंख्यक शिक्षा और कल्याणकारी संस्थाओं को नए-नए क़ानूनों के जरिए रोकने का प्रयास सरकारी तौर पर किया जा रहा है, ताकि भारत के सबसे प्राचीन निवासी आदिवासी लोग, जो देश के सबसे अल्पसंख्यक समुदाय भी हैं, वे शिक्षा और अन्य अवसरों का उपयोग अपने अस्तित्व बचाव के लिए नहीं कर सके। आदिवासी अस्तित्व के मुख्य आधार जल-जंगल-जमीन को आसानी से मल्टीनेशनल कॉर्पोरेट कंपनियों के हवाले किया जा सके। आदिवासियत के दर्शन और विचार को नष्ट करने की साजिश हर स्तर पर की जा रही है।"[66] प्रकृतिवासी समुदाय के खिलाफ रची जा रही इन साज़िशों का प्रतिरोध कवयित्री वंदना टेटे खुलकर करती हैं। अपनी मूल आदिवासी संस्कृति के स्थान पर दिकुओं की संस्कृति का अनुकरण व अनुसरण उन्हें स्वीकार नहीं है। वंदना टेटे की कई कविताओं में वैश्वीकरण के प्रभावों से उत्पन्न पारिवारिक, सामाजिक तथा वैचारिक परिवर्तनों को देखा जा सकता है। आज की नई पीढ़ी अपने आदिवासी पुरखों के सांस्कृतिक व प्राकृतिक दाय को, वाचिक साहित्य आदि को भूलते जा रहे हैं। बाजार की धुंध में उनका भी प्रकृति से विमुख होना, अपनी जड़ों से, अपनी ज़मीनों से तथा अपनी विरासत से अलग होना है।

'हमारे बच्चे नहीं जानते, तोतो-रे नोनो-रे', 'तुम कौन हो', 'कविताओं वाली नदी', 'रची जा रही हैं', 'सीधी कैसे चलू', 'पहाड़ की ज़िंदगी', 'मैं भी टूटा हुआ पुल' आदि कविताएं बाजारवाद और उससे प्रभावित सरकारी नीतियां आदिवासी समाज, उसकी नयी पीढ़ी और आदिवासी स्त्रियों की दुरावस्था को अभिव्यक्त करती हैं। 'हमारे बच्चे नहीं जानते, तोतो-रे नोनो-रे' कविता का गल्प और उसमें निहित चिंता पूरे सदी की नयी पीढ़ी पर लागू होती है। नयी आधुनिकता के नाम पर अपने पुरखों एवं उनकी विरासत को सहेजने में नयी पीढ़ी नाकाम रही है। टीवी, कम्प्यूटर, इंटरनेट और मोबाइल आदि की दुनिया ने उनसे उनकी विरासत को छीन लिया है। कवयित्री इस बात से चिंतित है कि अब उनके बच्चे आदिवासी प्रकृति की लीला

को, उसके सानिद्ध्य को जान नहीं पाएंगे – "सच में मैं चिंतित और उदास हूँ / कि नहीं जान पाएंगे मेरे बच्चे / डोरी, कुसुम से तेल निकालने की / मछली और चिड़िया पकड़ने की देशज तकनीक। / महुआ लट्ठा, इमली के बीज के साठा / औटाया गया खाने का स्वाद। / सरहुल पर्व से पहले / जंगल के फल-फूल को तोड़ने-खाने की मनाही / करमा के बाद खेतों में खड़ी / भेलवा की टहनियों का राज / अहा! नहीं जान पाएंगे मेरे बच्चे।"[67] अपनी नयी पीढ़ी के प्रति यह चिंता और उदासी का भाव बाजारवाद और अत्याधुनिक तकनीक की अंधाधुंध प्रयोग की देन है। डोरी, कुसुम से तेल निकालना, देशज तरीके से मछली पकड़ना या चिड़िया पकड़ना, महुआ लट्ठा, इमली का स्वाद, करमा-सरहुल पर्व में प्रकृति के फलों एवं फूलों की सुरक्षा आदि केवल आदिवासी जगत की जीवन शैली नहीं है, अपितु ये वे सांस्कृतिक मूल्य हैं जिनसे समाज में रह रहे एक-एक व्यक्ति के मानसिक विकास को पुष्पित किया जाता है। इन पर्व-त्योहारों के मारफ़त उन्हें अपने आसपास व्याप्त प्रकृति जगत की महत्ता एवं उनकी सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण पहलुओं का आभास कराया जाता है।

निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा तथा युवा कवयित्री जसिन्ता केरकेट्टा आदि कवयित्रियों ने बाजारवाद और सत्ता की दोहरी नीतियों को, उनकी अमानवीय पुलिसिया तंत्र की हिंसा तथा उनकी सोच की नग्नता को उजागर किया है। बतौर कवि, सामाजिक कार्यकर्ता इनके अनुभव अधिक यथार्थपरक होते हैं। आदिवासी जीवन दर्शन और आदिवासियत का आधार जल-जंगल-जमीन को बचाने के लिए इन कवयित्रियों ने प्राण की आहुति दे चुके अपने पूर्वजों-पुरखों-पुरखिनों की संघर्षगाथा को कविताओं के जरिए पुनर्जीवित कर नया इतिहास लिखा है। विभिन्न आदिवासी बोली-भाषा की कवयित्रियों की एकजुटता इस बात का प्रमाण है कि आदिवासी समाज मनुष्यता के उच्चत्तम मूल्यों के संवाहक है। उनकी मनुष्यता का विस्तार नदी, पहाड़, जंगल के साथ-साथ पशु-पक्षियों जैसे अमूक प्राणियों तक जाता है। बतर्ज वंदना टेटे "हमारे लिए स्वतंत्रता का मतलब सिर्फ मनुष्यों की स्वतंत्रता नहीं है। आदिवासी स्वतंत्रता

की परिभाषा में इस पृथ्वी का समूचा पर्यावरण, परिवेश और जीव-जगत आता है।"[68] स्वतंत्र प्रकृति के साथ रहने वाला प्रकृति प्रेमी कभी किसी बंधन को स्वीकार नहीं करता। उन्मुक्त भाव से वह पेड़-पौधों, फूल-फलों और पशु-पक्षियों से वार्ता करते हुए जीवन बसर करता है।

रोज केरकेट्टा की कविताएं इसी स्वतंत्रचेता भाव को लिए बाजारवादी ताकतों से जिरह करती हैं। उनकी 'पहली बारिश', 'भूटान राज्य नहीं जाऊँगी', 'पत्थलगढ़ी', 'चक्र और चक्कर', 'पचास वर्ष' आदि कविताएं बाजारीकरण और औद्योगीकरण के मातहत विस्थापन और अपनी जमीन से उखड़ जाने का रुदन है। विस्थापन को, उससे मिलने वाले धनलिप्सा के बदले अपनी जमीन पर ही बने रहने की चाह, अपनी जड़ों से सीखने की चाहत लिए एक 'बेटी' का यह कहना कि 'भूटान राज्य नहीं जाऊँगी' अपनी विरासत को पुनर्स्थापित करता है : "मत डाँटना माँ, मत डाँटना पिता / मैं तो दादा नहीं जाऊँगी भूटान राज्य / यही जन्मभूमि, यहीं मृत्यु भी / भूँइहरी स्थान यह दादा, नहीं, मैं नहीं जाऊँगी भूटान राज्य... ... नहीं मैं ललचाती सोना-चाँदी, ढेर-ढेर-सा पैसा / अक्ल, बुद्धि, जाओ दादा, मैं तो नहीं जाऊँगी / यत्न से समेटना इन्हें अवश्य है, / छोड़ जाओ दादा, मैं तो नहीं जाऊँगी भूटान राज्य।"[69] अंतिम चार पंक्तियाँ नयी पीढ़ी की उस एक छोटे से नवअंकुर की आस हैं जो अब भी अपनी विरासत से, अपने जल-जंगल-जमीन से जुड़े रहना चाहती है। बाजार और पूंजी का चकाचौंध उसके स्वाभिमान को डिगा नहीं सकता। बाजारवादी ताकतों के सम्मुख इसी निष्ठा व आत्मीयता को प्रतिपक्ष स्वरूप खड़ा करना होगा। अपनी जड़ों के प्रति यह लगाव ही आदिवासियत का जीवन-दर्शन है। कुछ इन्हीं भाव-तरंगों के साथ ग्रेस कुजूर की कविताएं आदिवासी समाज के द्वंद्व एवं विसंगतियों को अभिव्यक्त करती हैं। अपने समाज में निरंतर हो रहे परिवर्तनों और सत्ता की विध्वंशक नीतियों के खिलाफ उनका रचनात्मक प्रतिरोध उल्लेखनीय है। 'कलम को तीर होने दो' और 'कलम मौसम बदलेगी' जैसे अभिधान उनकी व्यापक मानवतावादी दृष्टि का ही परिचायक है। सत्ता, बाजार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सांठगांठ ने आदिवासी जगत को पूरी तरह अपने जद में

लेकर उन्हें, उनकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत से हमेशा के लिए विस्थापित कर दिया है। विस्थापन और हिंसा की इन कहानियों का काव्यात्मक रूप उनकी हृदय की टीस का साक्षी है। कवयित्री इस हिंसा और क्रूरता का जवाब कलम की धार से ही देना चाहती है।

निर्मला पुतुल वैश्वीकरण की अर्थनीति एवं सत्ता-व्यवस्था के गठबंधन से बर्बाद होने वाली सभ्यता, संस्कृति, विविधता और सामाजिकता को बारीकी से समझती हैं। उनकी कविताओं में और उनके भीतर भी बाजार ने कैसे कब्जा जमा रखा है, यह उन्हें भी पता नहीं लग पाता। बाजारवादी प्रवृत्तियों की सबसे बड़ी ताकत यही है, वह व्यक्ति को अपने अनुकूल सोचने, करने और चलने को धीरे-धीरे अभ्यस्त कर देती है। उनकी संस्कृति के स्थान पर उपभोक्ता संस्कृति को प्रश्रय देता है और उन्हें पता तक नहीं चलता : "वे दबे पाँव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में / तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं / वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे पढ़ते हैं / वे कौन हैं ....?"[70] अथवा "यह कहते हुए / शर्मिंदा महसूस कर रही हूँ / कि बाजार में घूमते / जब प्यास लगती है / तो पानी से ज़्यादा / पेप्सी और स्प्राइट की तलब होती है / पता नहीं कब / हमारी प्यास में घुस गया यह सब।"[71] बाजार का दबे पाँव आकर संस्कृति को बदलना और प्यास में पानी की जगह पेप्सी और स्प्राइट का अनायास आना नहीं है, बल्कि इसके पीछे की भयंकर रणनीति है जिसे समझना आसान नहीं है। टेलीविज़न जगत, मीडिया तथा अन्य दृश्य-श्रव्य माध्यमों द्वारा दिन भर सैकड़ों बार उसे अनुकूलन किया जाता है। प्यास लगे तो क्या पीना है? भूख लगे तो क्या खाना है? जन्म-मृत्यु से लेकर अन्य सभी अनुष्ठान आदि हो तो क्या पहनना है? क्या देना है, क्या कहना है और क्या खाना है....आदि-आदि सभी तरह के स्क्रिप्ट बाजार ने तैयार कर दिये हैं । आदिवासी जगत के संसाधनों पर भी इसी रणनीति के तहत कब्जा किया जाता है। सरकारी प्रलोभन और पुलिसिया तंत्र के साथ-साथ गैर आदिवासी समाज का उनके संसाधनों, उनकी बहू-बेटियों, उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर कुत्सित दृष्टि यह दर्शाती है कि वे सभी उनके विकास की कम, अपने स्वार्थ की अधिक चिंता करते हैं। उनके

श्रम तक का सही आकलन नहीं हो पाता और न ही उन्हें उचित मेहनताना मिल पाता है जबकि उनके हाथों से बने सामान कब और कैसे बाजार पहुँचकर महँगे दामों में बिक रहे होते हैं, यह उन्हें भी ज्ञात नहीं होता। इस बाजारू षड्यंत्र को कवयित्री ने करीब से देखा है : "तुम्हारे हाथों बने पत्तल भरते हैं पेट हजारों / पर हजारों पत्तल भर नहीं पाते तुम्हारा पेट।"[72] बाजारवादी नीतियों की यह त्रासदी है कि वह व्यक्ति की नागरिकता छीनकर उसे उपभोक्ता में बदल देती हैं। आदिवासी समाज को विकास का जो चौसर उनके हाथों में दिया गया, वह खोटा और खोखला निकला। उनके संसाधन और उनकी जमीन तथा सांस्कृतिक विरासत से वे दूर हो गए। कवयित्री इन खतरों से न सिर्फ समाज को, बल्कि स्वयं को भी चेता रही है। कवयित्री की 'संथाल परगना', 'जब टेबल पर गुलदस्ते की जगह बिसलरी की बोतलें सजती हैं', 'बहामुनी', 'बिटिया मुर्मु के लिए', 'मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नजर में' आदि कविताएं बाजार से प्रभावित बदली हुई रुचियों की कविताएं हैं। इन कविताओं का स्वर एकसाथ आदिवासी समाज के दर्जनों मुद्दों को अपने में समेटे, अपनी बात कहता है। 'संथाल परगना' हर उस प्रदेश की कथा है जहां से बलपूर्वक आदिवासियों को खदेड़ा गया, उनसे ज़ोर-जबर्दस्ती की गई और उन्हें मारा-पीटा गया। 'बहामुनी', 'बिटिया मुर्मु' हर गाँव-कस्बों में प्रताड़ित होते मिल रहे हैं। निर्मला पुतुल सत्ता की नीतियों और उपभोक्ता संस्कृतीकरण के बढ़ते प्रभावों को पूरी वैश्विक सभ्यता-संस्कृति के लिए खतरा मानते हुए इसे 'नव-उपनिवेशवाद' की संज्ञा देती हैं। अपने एक लेख (वैश्वीकरण के भँवर में आदिवासी भाषा-साहित्य) में वे लिखती हैं : "ग्लोबलाइजेशन नव-उपनिवेशवाद का अभिनव आक्रामक दौर है। इससे कॉर्पोरेट राजनीति शुरू हो रही है। आज की राजनीति और अर्थ-नीति मल्टीनेशनल कम्पनियों द्वारा संचालित हो रही है। उनकी धन-लोलुपता, सभ्यता-संस्कृति को प्रदूषित कर रही है। जीवन-मूल्य विघटित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में बहुत सारी जातियों, सभ्यताओं, संस्कृतियों का निःशेष न होना अचरज की बात होगी।"[73] कवयित्री का यह चिंतन पतन हो रही सैकड़ों आदिवासी-गैरआदिवासी बोलियों, भाषाओं, संस्कृतियों पर

लागू होता है। भाषाविद् एस. एन. गणेशदेवी के अनुसार, विश्व भर में सैकड़ों मानव जातियाँ और हजारों भाषाएँ संरक्षण के अभाव में लुप्त हो चुकी हैं।

युवा आदिवासी कवयित्री जसिन्ता केरकेट्टा 'जड़ों की ज़मीन' की कवयित्री हैं। आदिवासी जल-जंगल-ज़मीन के साथ ज़मीर और जुबान को, युवाओं के दर्द को, नक्सली के नाम पर उन पर होने हमले को कवयित्री ने पूरी मुखरता से उद्धृत किया है। जसिन्ता के कवि-कर्म की सबसे बड़ी विशिष्टता उनका अपने जंगलों, पेड़-पौधों आदि से संवाद करते हुए सामयिक समस्याओं को उसमें गूँथना या टाँकना है। युवा वर्ग की जुबान को, उनकी अनकही-अनलिखी कहानियाँ जिनमें वे निरपराध होते हुए भी अपराधी बताकर मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। जंगल में घुसे फौजी बूटों की, जो किसी भी पहर घर के दरवाजे तोड़ कर तहक़ीक़ात के नाम पर घर की बहू-बेटियों के साथ निर्ममता करते हैं ; पुरुषों को नक्सल के नाम पर मारते-पीटते हैं आदि-आदि। ऐसे दर्दनाक फसानों से आज भारत का हर आदिवासी प्रदेश भयभीत है। भय उसे गुंडों या चोरों से नहीं, बल्कि तथाकथित देश के रक्षकों, नीति-निर्धारकों से है जो पूंजीपति के इशारे पर आदिवासियों को अपने घर-बार और जमीन-जाएदाद छोड़ने पर मजबूर करते हैं। उद्योग व फैक्टरियों की बसावट ने वैसे ही उनका जीना मुहाल कर रखा है। पूंजीवादी संस्कृति ने आदिवासियों को केवल बेघर ही नहीं किया, बल्कि उनके पूरे वातावरण को प्रदूषित कर दिया है। पूँजी और बाजार की अंधलिप्सा ने ही आदिवासी इलाकों में अपराध और बेहिसाब हिंसा को बढ़ावा दिया है। जंगलों की कटाई, अवैध खनन तथा पशु-पक्षियों, जानवरों की तस्करी के साथ-साथ आदिवासी कस्बों के मासूम परिवारों की बेटियों को बहला-फुसलाकर उन्हें बेचना आदि ऐसे पहलू हैं जिन पर राष्ट्रीय स्तर पर कभी बात नहीं होती। सत्ता में बैठे माफियाओं का संरक्षण ही ऐसी अमानुषिकता को अंजाम देता है। 'अंगोर' और 'जड़ों की जमीन' की अधिकांश कविताएं इसी अमानुषिकता के खिलाफ एक प्रतिपक्ष हैं। नष्ट होती प्रकृति, मनुष्य के नष्ट होने के संकेत हैं इन्हें बचाना और संरक्षित करना ही मनुष्य और मनुष्यता को बचाना है।

‘मेरा अपराध क्या है?’, ‘शहर और गाय’, ‘साहेब! कैसे करोगे ख़ारिज?’, ‘खूँटी पर टंगी फोन की घंटी’, ‘घास और फूलों के लिए’ आदि कविताएं कवयित्री के शब्दों में कहें तो ‘थोड़ा-थोड़ा सच, थोड़ा-थोड़ा भरोसा, थोड़ी-थोड़ी उम्मीद’ की अपेक्षा की कविताएं हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वैश्वीकरण की अर्थनीति, बाजारवाद, मल्टीनेशनल कम्पनियों और सत्ता-व्यवस्था की कथित विकास की नीतियों ने आदिवासियत को बुरी तरह से प्रभावित किया है। आदिवासी स्त्रियाँ भी इसकी शिकार हुई हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने स्त्री-पुरुष संबंधों को, उनके सांस्कृतिक मूल्यों को असभ्य कहकर आदिवासी अस्मिता को चोट पहुंचाई है। रोज केरकेट्टा, ग्रेस कुजूर, निर्मला पुतुल, जसिन्ता केरकेट्टा आदि कवयित्रियों ने अपने समाज के सवालों और उनके समक्ष आ रही चुनौतियों को गंभीरता से उठाया है। दलित स्त्री-कवियों की अपने समाज के प्रति पक्षधरता आने वाले उज्ज्वल भविष्य का संकेत है। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे और रजत रानी ‘मीनू’ का समान अवसर, मानवतावादी दृष्टिपरक चिंतन पूरे समाज को एकजुट करने का प्रयास है। स्त्री-कविता पर आरोप लगाने वाले आलोचकों के लिए स्त्री-कवियों की मूल प्रपत्तियों को समझना आवश्यक है, अन्यथा वे अपना ही पुरुषवादी राग आलापते रहेंगे कि स्त्री-कवियों में सिवाय दुख, वेदना, पीड़ा आदि के कुछ नहीं है। आज जब स्त्री-कवियों ने राष्ट्र और विश्व के सभी ज्वलंत मुद्दों पर अपनी बात रख रही है तो आवश्यकता है कि बनी-बनायी धारणाओं को तोड़कर संवाद का और साझा विकास का एक मंच तैयार हो जिसमें लैंगिक पूर्वग्रह न होकर एक-दूसरे के प्रति सम्मान का भाव हो। अनामिका, कात्यायनी, गगन गिल, शुभा से लेकर नीलेश, रंजना जायसवाल, अनीता वर्मा आदि की कविताएं उस सार्वजनीन भावना को जन्म देती हैं जिसमें कोई पदानुक्रम न हों; मनुष्यता उसका सर्वोपरि धर्म बने और प्रकृति उसकी सहयात्री हो।

iv. स्त्री-कविता की वैचारिकी :

"ज्ञान की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए आप जिस संज्ञान तक पहुँचते हैं ; शब्दों की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए गहन मौन तक, मेरा अकेलापन आपके अकेलेपन से जहां रूबरू होता है, स्त्री-कविता वहीं एक चटाई-सी बिछाती है! जो भी चटाई बिछाता है, उसका सपना यही होता है कि पदानुक्रम टूट जायें, भेद-भाव की सारी संरचनाएं टूट जायें, एक धरातल पर आ बैठें दुनिया के ध्रुवांत – आपबीती और जगबीती, गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष, श्वेत-अश्वेत, दलित-गैरदलित, देहाती-शहराती, लोक और शास्त्र...! कविता का केन्द्रीय औज़ार – रूपक भेद-भाव की सारी संरचनाएं तोड़ता हुआ एक झप्पी-सी घटित करता है – मैक्रो-माइक्रो, घरेलू और दूरस्थ वस्तुजगत के बीच!"[74] कवयित्री अनामिका का यह कथन केवल स्त्री-कविता की वैचारिक आधारशिला को ही रेखांकित नहीं करता, बल्कि नौवें दशक के बाद हिंदी कविता के अंतःपाठीय परिवर्तन और प्रत्यावर्तन को भी नयी व्याप्ति देता है। संक्रमण की स्थितियों ने कई महाप्रमेयों को घुलामिला दिया। दो विश्वयुद्धों की त्रासदी ने मनुष्य के अस्तित्व को प्रश्नांकित किया और अस्तित्ववाद की चर्चा ने मनुष्य के जीवन-दर्शन को पुनर्भाषित किया। मनुष्य-जीवन कई दशकों तक इस भयावह त्रासदी की मनःस्थिति में व्याकुल रहा। महावृतांत और महाशक्ति रचने या अर्जन करने की अकूत लालसा ने मनुष्य की न्यायदृष्टि, सर्वसमावेशी भाव को अहं में परिवर्तित कर दिया।

नौवें दशक तक आते-आते समाजशास्त्र, मानविकी और वैज्ञानिक चेतना आदि के समवेत दृष्टि ने एकबार फिर मानव-जीवन को नयी दिशाओं, तकनीकों से लैस किया और जिजीविषा की उत्कट व सौंदर्य भावना को संचारित किया। परिणामतः एक नयी विश्व ग्राम समाज की प्राक्कल्पना ने रूप लिया। सैकड़ों राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संधियों ने मनुष्यता को बचाए रखने का प्रकल्प वैश्विक स्तर पर प्रस्तुत किया। राज्य, राष्ट्र और वैश्विक परिवर्तन के घटाटोपों के बीच अब स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग इस प्रकल्प में शामिल होने लगा। स्त्रियों के शामिल होने पर पारिवारिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्थितियाँ बदलीं। सामाजिकता की

भावना का प्रसार अधिक हुआ और पुरुषों के समकक्ष आकर स्त्रियों ने अपने प्रज्ञामूलक सूत्र को नयी उड़ान दी। इसी अर्थ में स्त्री-लेखन अतीतग्रस्तता के बजाए आत्मविश्लेषण, आत्मालोचन एवं आत्मसंघर्ष पर बल देता है।

नौवें दशक के बाद उभरी स्त्री-कविता में जिस समतामूलक या पदानुक्रममुक्त दृष्टि की बात कवयित्री अनामिका बार-बार करती हैं, वह करुणा संवलित न्यायदृष्टि ही है जिसमें प्रतिशोध के बजाए प्रतिरोध के बल पर हृदय परिवर्तन की आस रहती है। भाषिक विन्यासों के सहारे पूरी दुनिया के दर्द को समझने की क्षमता "हर भाषा है दर्द की भाषा- / जबसे समझने लगा हूँ - / चाहे जिस भाषा में लिखी हो / मैं बाँच सकता हूँ चिट्ठी।"[75] अनामिका सदैव कविता में भाषा के टोन पर काफी ध्यान देती हैं। भाषा का टोन ही विचार अथवा विचारधारा को लैंगिक पूर्वग्रहों से मजबूत बनाता है। स्त्री-कविता पिछले तीन-चार दशकों से भाषा पर इसलिए भी ज़ोर देती है क्योंकि स्त्री का मस्तिष्क अलग भाषिक टोन में काम करता है। लेखन में – कविता में, उनकी भाषा बदल जाती है। भाषा, विचार और प्रस्तुति में मातृत्व, मातृमना-दृष्टि का प्रवेश भाषा तथा विचार को अधिक समावेशी बना देता है जिसके कारण श्रोता, विधेय या विपक्ष स्वयं ही हार मानने लगता है। प्रेम की, करुणा की भाषा बोलकर ही आप आमूल परिवर्तन की आस रख सकते हैं। स्त्री-कविता भी वैचारिक स्तर पर परिवार, समाज, राजनीति, विश्व-राजनीति आदि को अहिंसक, संवादी न्यायदृष्टि से परिचालित होते देखना चाहती है। सभी घेराबंदियों को तोड़कर बंधु-परिवार के निर्माण में स्त्री-कविता प्रक्षालक की भूमिका निभाएगी। विभिन्न आंदोलनों में हिस्सेदारी, दलित-आदिवासी और विभिन्न राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मुद्दों पर स्त्री-कवियों का चिंतन सहकारिता के दर्शन को उद्घाटित करता है। अर्थात स्त्री-मुक्ति का संघर्ष केवल स्त्री का ही नहीं रह जाता बल्कि प्रकारांतर से वह मानव मुक्ति व स्वाधीन चेतना का उत्स बनता है।

अनामिका, गगन गिल, कात्यायनी तथा सविता सिंह आदि कवयित्रियां अपनी कविताओं के जरिए जिस महावृतांत को रचना चाहती हैं, वह सहकारिता, सर्वसमावेशी मूल्यों द्वारा नवीन समाज-निर्माण और दासता या गुलामी (धार्मिक, नैतिक, पौरुषिक आदि सभी तरह के अतिवादों) से मुक्ति का ही प्रयाण है। इन स्त्री-कवियों के साथ विभिन्न वर्गों-क्षेत्रों-कस्बों से आई एक पलटन है जो सामाजिक संघर्ष व सामाजिक न्याय-बोध और काल-बोध दोनों ही स्तर पर संपृक्त भाव से कविता में अभिव्यक्त होते हैं। अतः इनकी कविताएं विचार या विचारधाराओं का संघटन-सम्मिश्रण एक कॉकटेल रस को निर्मित करती हैं।

समकालीन दौर की स्त्री-कवियों ने अपने समय के ज्वलंत सवालों से टकराकर अपनी सृजनशीलता को लोकोन्मुखी बनाया है। उनके सामाजिक-सांसारिक अनुभव और अध्ययन-चिंतन-मनन ने साहित्यालोचन के मानकों को गंभीरता से प्रभावित किया है। साहित्य में जिसे कभी कमसिन, मुग्धा-प्रगल्भा नायिका, माया, महाठगिनी, नरक का द्वार या लदा हुआ गर्भ आदि सैकड़ों नकारात्मक-कामुक उपमाएं दी गयीं। वे आज अपनी वैचारिक पहचान बना रही हैं तो हलचल स्वाभाविक है। मानवीय विवेक की नयी परिभाषा स्त्री-कविता की जमीन को ठोस बनाती है। स्त्री-पुरुष संबंधों को स्त्री-कविता स्त्रीत्व के जिस फ्रेम में देखना चाहती है, वह वास्तव में पारस्परिक सहयोग वृत्ति का ही द्योतक है। गगन गिल जैसी कवयित्री स्त्री-पुरुष संबंधों, स्त्रीत्व और मनुष्यत्व को जब कविता का रूपक देती हैं तब उसमें स्त्री-दृष्टि की प्रच्छन्नता मौजूद रहती है। सृष्टि के रहस्य और स्त्री-व्यक्तित्व को मानक पुरुष-दृष्टि से न देख कर स्वतंत्र दृष्टि से देखना, उनमें निहित गांठों, रहस्यों को सुलझाना आदि गगन गिल की कविता का मानस है। पुरुष की रचनाशीलता जहां एक ओर संसार के महा-सत्य को प्रस्तुत करती है, वहीं स्त्री की रचनाशीलता सृष्टि के रहस्यों की जटाओं को सुलझाती है। गगन की काव्य-सर्जना में टैगोर और बुद्ध का चिंतन एक आलोक की भांति प्रस्तुत है। एक साक्षात्कार में वे इस बात को स्वीकारते हुए कहती हैं कि "मुझे टैगोर और बुद्ध से रोशनी मिलती है। मेरे मन के संसार में यह दो

ऐतिहासिक उपस्थितियाँ बहुत बरसों से जीवंत है – लेकिन अपना कोई व्यक्तिगत आइकॉन मुझे मानना हो तो वह टैगोर हैं। इतना ह्यूमनाइज्ड माइंड है वहाँ। बुद्ध ने दुख का कारण समझ लिया था और त्रिकालदर्शी हो गए थे। वह वहाँ ऊपर, हम यहाँ नीचे। गुरुदेव के साथ ऐसा नहीं लगता, उन्हें हम अपनी बात बता सकते हैं।"[76] कवयित्री गगन गिल टैगोर के संबंध में जिस 'ह्यूमनाइज्ड माइंड' की बात कहती हैं और बुद्धत्व को त्रिकालदर्शी, उनकी कविताओं में पसरी करुणा इन दोनों अवचेतनों का ही सम्मिश्रण है। गगन की कविता का वैचारिक आधार भी इन्हीं भावों में अनुस्यूत है। उनका हर एक संग्रह उन्हीं मनोभूमियों की विकास यात्रा है। 'एक दिन लौटेगी लड़की-अँधेरे में बुद्ध-यह आकांक्षा समय नहीं-थपक थपक दिल थपक थपक-मैं जब तक आई बाहर' की कविताएं कवयित्री के अंतर्मन की अभिव्यक्ति से अधिक इस अतिवाचाल समय के एकांत में बैठे इंसानियत के सूक्ष्म संवेगों को दीपित करती हैं। कवयित्री कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कहना चाहती है। कविता में कुछ रहस्यों को छुपाते हुए बुद्ध की भांति कविता को 'त्रिकालदर्शी' बनाना चाहती है। इन सब दार्शनिक स्थितियों के बावजूद कवयित्री अपने समय से मुठभेड़ करती जरूर है। 'कभी-कभी अपना सच' कह देने को आतुर मनोदशा में अपने समय के सच को देखा जा सकता है। 'दिल में कलम डुबोकर सच लिखने वाली' कवयित्री विषाक्त से विषाक्त समय में सत्य के पक्ष में खड़ी होती दिखती है। सत्य के पक्ष में खड़ा होना मनुष्यत्व के पक्ष में खड़ा होना है। दुनियावी झूठे छलावों, चक्रव्यूहों से निकलने का एकमात्र रास्ता सत्य ही है। यथा : "भेड़िये जब पकड़े हुए हों / आपकी टांग / और आपके कंठ से निकल न पाये / कमजोर सी भी चीख़ / आप घिर चुके हों चक्रव्यूह से / और पता न चलता हो / आप चुप्पी से बचेंगे / याकि चीख़ से / कोई ध्वनि निकलनी चाहिए / आपके कंठ से / वर्ण से परे / चाहे कितनी भी विषाक्त हो / आना चाहिए कहना / दो टूक अपना सच।"[77] चुप्पी के खिलाफ चीख़ या ध्वनि अथवा शब्द-वर्ण से परे अपने सच को कहना साहसिक कार्य है। यह सत्य की अभिव्यक्ति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को माँजती है। इन काव्य-पंक्तियों में कवयित्री

स्वयं भी बोलती है और पूरा आहत संसार भी। कवयित्री ने अपने संसार को व्यक्तिगत स्तर पर अलग कर रखा है। वे मानती हैं कि लिखना एक शिल्पकारी है, पत्थर में छिपे अदृश्य आकृति या अंश को ढूंढ निकालने का! कविता के जरिए भाषा की वृहद संभावनाओं को खोलना तथा उसमें निहित मानवीय संवेदना को रूपाकार देना, गगन के कवित्व को अनोखा बनाता है।

स्त्री-लेखन की परंपरा में गगन गिल का लेखन कुछ अलग भावभूमि लिए हुए है जिसका मुख्य कारण उनकी बौद्धिक सचेतनता है। बिना उस बौद्धिक सचेतनता को जाने हम उनकी कविता के मोनोलॉग को नहीं समझ सकते हैं। बौद्ध वाङ्गमय की करुणाकलित दृष्टि व चिंतन उनकी निजता या पीड़ाभाव को समझने की पहली कुंजी है। स्त्री-कवियों की फेहरिश्त में गगन की कविताएं उस अनुभव-खंड का आख्यान हैं जिससे हर एक साधारण लेखक-लेखिका बचना चाहते हैं, उस चुनाव में खतरे हैं, मानसिक व्याकुलता और गहनता है जो दिन-रात मन को बेचैन किए रहती है। गगन ये खतरे उठाती हैं। उनका चयन मनुष्य के जीवन के उन भू-खंडों-मनोवेगों की पकड़ पर रहता है जहां अंततः हर मनुष्य को ठिठकना होता है, वह ठौर जिसे मुक्तिधाम या अक्षयलोक (मोक्ष का स्थान) कहते हैं। स्त्री-कविता की यह अनहद आवाज जीवन को उसकी मार्मिकता के साथ समझने की विचार-गाथा है।

स्त्री-कविता के विविध स्वरों ने परिवार, समाज, जेंडर, राजनीति, अर्थतंत्र, पर्यावरण आदि वर्तमान स्थितियों पर अपने निजी विचार प्रस्तुत किए हैं। समाज का वर्गीय ढांचा हो या जातिगत विभाजन अथवा लैंगिक पूर्वग्रह आदि का संदर्भ जब कविता में छनकर आता है तो वह अधिक प्रगतिशील और भविष्योन्मुखी होता है। उसका अपना एक निजी संसार, एक निजी विचार होता है जो रूढ हो चुकी मान्यताओं को नयी तासीर देता है। कात्यायनी, नीलेश रघुवंशी, शुभा, निर्मला पुतुल आदि की कविताओं में अभिव्यक्त जनतांत्रिक बोध यह दर्शाता है कि स्त्री-संवेदना की पहुँच जीवन के सभी क्षेत्रों में है। कवयित्री कात्यायनी की समाजवादी विचारधारा के प्रति पक्षधरता, उनकी कविताओं को समाज में व्याप्त असमानताओं, वर्गीय-विभाजन और

वर्गीय-शोषण के प्रतिरोध की आवाज बनाती है। मानवीय इतिहास की शोषणकारी व्यवस्था को समझने के लिए जरूरी है कि समाज में व्याप्त वर्ग-विभाजन को समझा जाए। पितृसत्ता, धर्मसत्ता और राज्यसत्ता के सामंती या पूंजी के खेल में निम्नमध्य वर्ग व स्त्रियों के श्रम को, उनकी स्वतंत्र अस्मिता का हमेशा ही दलन किया गया। अपने स्वार्थ की खातिर बुर्जुआ वर्ग ने श्रमिकों और स्त्रियों के श्रम का बेहिसाब दोहन किया। मुक्त बाजार व उदारीकरण की नीतियां भी स्त्री व श्रमिक वर्ग के पक्ष में न रहीं। पूंजी का वर्चस्व बढ़ता गया और मजदूर, स्त्रियाँ पण्यवस्तु में बदलते गए। कात्यायनी की कविता इस उग्रवादी व्यवस्था का प्रतिकार समाजवादी चेतना से करती है। प्रतिरोध के सांगठनिक ढांचे और ठोस वैचारिक आधार द्वारा ही मुक्ति की लड़ाई लड़ी जा सकती है। हालांकि कात्यायनी यह भी स्वीकार करती हैं कि "समाजवाद भी नारी-समस्या का अंतिम समाधान नहीं, बल्कि समाधान की शुरुआत है।"[78] इस समाधान की शुरुआत के लिए एकजुटता, प्रतिबद्धता और समर्पण आवश्यक है। पितृसत्तात्मक पूंजीवादी तंत्र ने आम जनता की सोच को अपनी गिरफ्त में कर लिया है। यह एक भयानक हिंसा है जो अनायास ही व्यक्ति के अवचेतन को रूढ़ियों का गुलाम बना रही होती है। इसके पोषण के लिए बाजार, धर्म, संस्कृति, परंपरा, जाति-विभाजन के मनुवादी संस्कारों को सौंदर्य का जामा पहना कर समाज के एक बड़े हिस्से को गुमराह किया जा रहा है। कात्यायनी जिस वैचारिक तर्ज पर इन सत्ताओं का काव्यात्मक और सांस्कृतिक प्रतिरोध करती हैं, उसमें वंचित समुदाय की समवेत आवाज समादृत है। वंचितों, श्रमिकों, स्त्रियों के अधिकार हेतु उनका वैचारिक संघर्ष और लेखन दोनों ही एक-दूसरे के पर्याय हैं। उन्होंने वैश्विक स्तर पर नारीवादी आंदोलन का विस्तृत ब्यौरा अपने निबंधों में देते हुए भारत में हुए उसके प्रभावों का उल्लेख किया है। कैसे आज भी स्त्रियों को रहस्यमय या बेगाना साबित करने के लिए पूंजीवादी तंत्र और टेलीविज़न जगत बेहिसाब कोशिश कर रहे हैं। उत्तर आधुनिक युग में भी पारिवारिक-सामाजिक कर्मकांडों द्वारा स्त्रियों, श्रमिकों और वंचित समुदाय को आत्मप्रवंचना का शिकार बनाया जा रहा है।

कात्यायनी अपने एक लेख 'नारी मुक्ति आंदोलन और कुछ बुनियादी सवाल' में भारतीय समाज में फैले मनुवादी संस्कारों की भर्त्सना करती हैं "मनु के विधान यहाँ आज भी जिंदा है। शिक्षा के प्रसार के बावजूद सभी सामाजिक क्रियाकलापों से बहुसंख्यक नारी-समुदाय मुख्यतः कटा हुआ है। मजदूर और गरीब किसान औरतें निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम के रूप में ही सही, पर समाज में जारी उत्पादन की कार्यवाईयों में हिस्सा लेती हैं लेकिन मध्यम वर्ग की शिक्षित औरतों तक का बहुलांश चूल्हे-चौकठ से ही पूरी तरह बंधा हुआ है और पति की सेवा, बच्चों के लालन-पालन और घर के भीतर उपयोग की चीजों के उत्पादन से अधिक वह कुछ नहीं करतीं। औरतों का पुरुषों और पूरे समाज से जितना अमानवीय पार्थक्य (segregation) हिंदुस्तान में है उतना मध्यपूर्व के कुछ देशों को छोड़कर कहीं नहीं है।"[79] भारतीय समाज में फैले वर्गीय विभाजन कई मायनों में श्रेष्ठताग्रंथि को पैदा करते हैं। मध्यवर्गीय महिलाओं और परिवारों का एक निश्चित दायरे में रहना उन्हें त्रिशंकु की स्थिति में ला खड़ा करता है। यह वर्ग सबसे अधिक तथाकथित फिल्मी सितारों के साथ दोपहरिया रिऐलिटी शो-धारावाहिकों (Reality Show-Daily Soap) के अभिनेताओं-अभिनेत्रियों आदि से प्रभावित रहता है। वेषभूषा, खानपान, बोलचाल यहाँ तक कि शारीरिक आकृतियों तक को अंध-भाव से यह वर्ग अपने जीवन में उतारना चाहता है : "मैं चाहती हूँ / लिखना / प्रेम की एक कविता / मेरी दोस्त / कहती है / डायटिंग करने के लिए।"[80] चूंकि कवयित्री स्वयं उस समाज का हिस्सा है, इसलिए वे इसे बेहतर जानती है। बाजार और विज्ञापन के युग में अब स्वयं को पाना या लीक से हटकर चलना कितना दुसाध्य है।

निम्नमध्य वर्ग के चित्र और लोक-संसार की विडंबनाओं को सहजता से कविता में ढालने वाली नीलेश भी कात्यायनी की उस चिंता से जुड़ती हैं, जहां यह वर्ग मूक रहकर अपने रूप-सौंदर्य या पेशे को फैशन के रंग में रंगना चाहता है। बाजार उनसे उनकी भाषा छीन लेता है। 'फेशियल', 'सुंदरियों', 'स्त्री-विमर्श', 'छल का लोटा', 'स्त्री की नींद' आदि कई कविताएं हैं

जिनमें कवयित्री स्त्री और उसके आसपास की चहल-पहल को ऐसी लय देती है, जैसे वह उनकी अपनी लड़ाई हो तो दूसरी ओर नीलेश जनसाधारण के आर्तभाव को एक आख्यान का रूप देती है। किसान, मजदूर, महिला श्रमिक, कामगार-नौकरीशुदा आम जन उनकी जीवटता को अंत समय तक बांधे रखता है। उस जनसाधारण की कामना व विश्वास को कविता के सहारे प्रसार देना चाहती है ताकि सत्ता-व्यवस्था उनके यथार्थ-पक्ष से रूबरू हो सकें। युवा समीक्षक पंकज चतुर्वेदी नीलेश की काव्य-सर्जना में निहित वैचारिक दृढ़ता और सादगी को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं "सच्चाई से सचेत और उसके प्रति ईमानदार होने की बुनियादी प्रतिश्रुति की बदौलत कविता किसी स्वप्निल, कोमल, वाववीय संसार में नहीं भटकती, बल्कि इच्छा और परिस्थिति के विकट द्वंद्व को साकार करती हैं! नीलेश की नज़र में अपने लिए किसी स्वप्न को स्वायत्त करना और उसकी वैयक्तिक साधना करना गुनाह है! उनके यहाँ सामान्य जन-जीवन ही स्वप्न की कसौटी है! यही इस कविता का साम्यवाद है, जिसके चलते वे अपनी ही उत्पादित वस्तु से श्रमिक-वर्ग की चेतना के अलगाव और अपरिचय की विडंबना को पहचानते हैं।"[81] कवयित्री की चिंता उनके लोक-अनुभव की उपज है। 'सपनों का उच्चारण', 'किसान', 'खूँट जाएँ', 'मल्लाह का शोकगीत', 'जनरल बोगी', 'विज्ञापन में किसान', 'गैस त्रासदी', 'गुड लाइफ टिप्स' आदि कविताएं नीलेश की जनतांत्रिक-बोध की उद्याम चेतना को दर्शाती हैं। नीलेश अपने कस्बों और अपने लोक के उद्बोधनों को उन्हीं की भाव-भंगिमा में रखती हैं। यह उनकी काव्य-शैली को दुरूह होने से बचाता है। टूटती-बिखरती इस दुनिया को कवयित्री मनुष्यता के नरम ताप से बचाना चाहती है। उसके जटिल यथार्थ से टकराते हुए वह मुक्ति का स्वप्न देखती है : "इस बदरंग और ऊबड़-खाबड़ दुनिया को बदल देना / एक खेत में और उसमें मनुष्यता को बो देना / एक स्वप्न है जाती हूँ जिसमें बार-बार / लौटती हूँ हर बार / मकड़ी के जाले-सी बुनी इस दुनिया के भीतर।"[82] इस ऊबड़-खाबड़ और बदरंग दुनिया को एक खेत में बदलना और उसमें मनुष्यता का बीज बोना नीलेश की काव्य-सर्जना का केन्द्रीय सरोकार है।

यह जन सरोकार ही स्त्री-कविता की परंपरा में नीलेश को वैचारिक स्तर पर बड़ा बनाता है। सारे वाद-विवाद-धाराओं से इतर इनकी कविताएं मनुष्यता के पक्षधर स्वरूप को प्रतिष्ठित करती हैं। यहाँ किसी विचारधारा अथवा साहित्यिक वादों-विमर्शों का दबाव नहीं है, बल्कि एक सामान्य भाषा में प्रेम, विनय, विश्वास और आस की वह महीन डोर है जिसे समाज का निरा मूर्ख व्यक्ति भी एक झटके में अपने ज़ेहन में उतार लेता है। नीलेश की यही ताकत है और बड़ी ताकत है अपने जनतंत्र को – अपने जनसाधारण की दुख-तकलीफ़ों को समझने की! बतर्ज पंकज चतुर्वेदी "नीलेश साधारण जन-समाज से आवयविक रिश्ता कायम करती हैं क्योंकि वे काव्य-वस्तु के लिए ही नहीं, भाषा और भाव के लिए भी उसके पास जाती है। सच है कि जो लोग सबसे अरक्षित और साधनहीन हैं, वे ही हँसते-हँसते मृत्यु की कामना कर सकते हैं! कबीर ने जिसे आकाश से अमृत निचोड़ना कहा था, उस तरह ये मृत्यु के हाथों से ज़िंदगी छीन लेते हैं! लेकिन जो मौत से डरते हैं, वे अपना सब कुछ बचाने की फिराक में ज़िंदगी से ही कतराकर निकल जाते हैं।"[83] यह कथन एक श्वेत-पत्र है नीलेश की कविता और उस जन-साधारण की उत्कट जीने की लालसा का जो हर रोज मौत को चकमा देते हैं और अपने जीवन के उल्लास को बनाए रखते हैं। नीलेश की यह काव्यात्मक प्रतिबद्धता उनकी दैनंदिनी के छोटे-छोटे अनुभवों से ही निर्मित होती है। उनमें बतकही, बतरस, किस्सागोई और संवाद-विवाद का लय शामिल है। नीलेश आकाश से तो नहीं पर आम जनजीवन से अमृत जरूर निचोड़ लाती हैं। उनके अनुभव बिम्ब और भाषा प्रवाह जीवन-रस को एक निश्चित आकार देते हैं।

पितृसत्तात्मक संरचनाओं द्वारा निर्मित स्त्री की छवि, पुरुषों द्वारा निर्धारित रिश्तों से भिन्न स्वतंत्र व्यक्तित्व की मुखालफत करने वाले स्त्री-मूल्यों और स्वाधीन चेतना के बल पर वह स्त्री को एक 'मनुष्य' के रूप में स्थापित करना चाहती है। स्वतंत्र व्यक्तित्व और मनुष्य के रूप में ही स्त्री अपनी अस्मिता की खोज कर सकती है। 'मनुष्य बनने की इच्छा' ही उनकी कविताओं का सार है। शुभा जितनी राजनीतिक रूप से सक्रिय हैं, उतनी ही पारिवारिक-सामाजिक स्तर पर

अपने दायित्व-बोध को समझती हैं। स्त्री के प्रति सभी वर्गों-स्तरों (निम्न, मध्य, उच्च / परिवार, समाज, राजनीति) पर फैले क्रूर अमानवीय हिंसात्मक विचार प्रणाली या दोहरे चरित्र पर कवयित्री करारा व्यंग्य करती है। शुभा अपनी कविताओं में स्त्री-अस्मिता का जिस रूप में रेखांकन करती हैं, वह वैचारिक स्तर पर सामाजिक-राजनैतिक तथा आर्थिक प्रश्नों से टकराता है। उसकी निजता सामाजिकता में बदलती है और भला मनुष्य होने की घोषणा करती है "...क्या किसी मनुष्य ने / ठीक यही कोण बनाया था, / सूरज के मुक़ाबले, / जो मैं बना रही हूँ / पृथ्वी बहुत परिचित लगती है आज / पूर्वजों के पदचाप से / गूंज रही हैं शिलाएँ / और घने ऊंचे पेड़ / यह धरती आज लगती है / सचमुच मातृभूमि / भला मनुष्य बनने की / इच्छा जग रही है मुझमें / जो ले जाएगी मुझे मेरे दुखों / और मेरी कुर्बानियों तक।"[84] मनुष्यत्व के बोध से ही स्त्री-अस्मिता को परिभाषित किया जा सकता है। कवयित्री जिस 'कोण' की बात करती है, वह इतिहासबोध से निर्मित कोण है जिससे वह पितृसत्ता के प्रपंच को समझते हुए उसके बरक्स स्त्री की ऐतिहासिकता को स्थापित करती है। यह दृष्टि ही स्त्री को इतिहास की ओर मोड़ती है और अ-मनुष्य समझे जाने के भेद को पहचानती है। यहाँ मातृभूमि शब्द की अर्थ-समृद्धि हुई है। मातृभूमि में मातृ शब्द पूरे मानव-जाति का संवाहक है।

जनतंत्र में स्त्री की नियति या यूं कहें कि सम्पूर्ण जनमानस की नियति एक वोट से अधिक कुछ नहीं होती। इस जनतांत्रिकता में असहायता की स्थिति जनता की क्रान्तिकारी चेतना को कुंद करती है। शुभा सत्ता व जनतंत्र को नयी व्याप्ति देती हैं जिससे कि जनतांत्रिक व्यवस्थाओं की अकर्मण्यता के खिलाफ एक सामूहिक मोर्चा बन सकें। शुभा की कविताओं में पसरे पीड़ा, दुख व आह का सीधा कारण राजनीतिक है। युवा आलोचक आशुतोष कुमार अपने लेख 'स्त्री-कविता का सामाजिक स्वर और शुभा की कविताएं' में इस भाव को स्वीकारते हुए शुभा की रचना-प्रक्रिया में राजनीतिक चेतना और राजनीतिक स्थितियों से उपजे दुख के निवारण का स्रोत भी वही से निकलते देखते हैं "...शुभा की कविता कहती है कि हर दुख राजनीतिक है।

इसलिए व्यक्तिगत, ज्ञान, धीरज और साहस इसे मिटाने के लिए काफी नहीं है। उनकी चर्चित कविता 'अतिमानवीय दुख' में निजी गुस्से और आंसुओं से इस दुख को उठाया नहीं जा सकता। कविता, विचार, संगठन और ऐतिहासिक शक्तियों के बूते इसे उठाने की कोशिश की जाती है। कम्युनिष्ट पार्टियां इसे उठाने की कोशिश करते बिखरती जाती है। यह भारत में कम्युनिष्ट आंदोलन के बिखराव की स्वीकृति है और इस परिणति के लिए जिम्मेदार, उनके भटकाव की ओर एक इशारा थी। ... ...शुभा की ताकत यही है कि उनकी कविताओं में भविष्य का संकेत मौजूद रहता है। ध्यान से देखने पर दुख के घटाटोप के भीतर से वह दिशा दिखाई दे जा सकती है, जिधर सकरात्मक परिवर्तन की संभावना मौजूद हो।"[85] आलोचक की यह टिप्पणी शुभा की कविता में निहित परिवर्तनकामी चेतना की ओर इशारा करती है। राजनीतिक शक्तियाँ अब भी जनतंत्र के नाम पर तानाशाही प्रवृत्तियों को संचारित करना चाहती हैं, करती भी हैं। स्त्री जीवन के मुद्दों का राजनीतिक मुद्दा न बनना या उनकी राजनीति में बराबरी का हिस्सेदारी न होना ; इस बात का सूचक है। स्त्री-शक्ति का सांगठनिक-वैचारिक प्रतिरोध ही राजनीति में व्याप्त पुरुषवर्चस्व को भेद सकता है। 'अमानवीय दुख' को मानवता के एकजुट साहस और स्वतंत्र विचार द्वारा एक आलोक दिया जा सकता है लेकिन वह एक आलोक भर ही होगा। जैसा कि कात्यायनी ने कहा था कि समाजवाद नारी समस्या के समाधान की शुरुआत भर है। उसके आगे की दिशा उसे स्वयं तय करनी होगी। विचार, संगठन एवं आंदोलन, जनतंत्र और स्त्री की सामुदायिक उत्कर्ष की पहली शर्त है। स्त्री-कवियों की विचार पद्धति पिछले तीन-चार दशकों में कथित महान अवधारणाओं का नया भाष्य प्रस्तुत करने की रही है जो सभी समाजशास्त्रीय अनुशासनों के सिद्धांत को चुनौती देती है।

स्त्रीवादी चेतना की प्रखर उद्घोषक कवयित्री सविता सिंह और रंजना जाएसवाल की कविताएं स्त्री-कविता के वैचारिक पक्ष को मजबूत बनाती हैं। दोनों ही कवयित्री जेंडर और पितृसत्ता के सवालों पर मुखरता से अपनी बात रखती है। प्रकृति उनकी कविताओं के कोरस में

सदैव शामिल रहती है। प्रकृति के साथ ही प्रेम उनके कवित्व का प्रेरक तत्व है लेकिन यहाँ प्रेम के वही भाष्य नहीं हैं, जो प्रायः हिंदी कविता में वर्णित होते हैं। यहाँ प्रेम भोगे हुए मानसिक-शारीरिक-सामाजिक यथार्थ से उपजे हृदयगत-करुणाकलित भाव है। सभ्यता, संस्कृति, परंपरा आदि पर स्त्री-कवियों का रुख निर्विवाद रूप से भिन्न है। पुरुष प्रधान समाज ने अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए जितने धार्मिक, पारंपरिक और सांस्कृतिक विधान बनाए, उनमें स्त्री महज एक सामग्री की तरह पेश की जाती रही। उसे कभी महादेवी रूप का दर्जा दिया गया; अन्यथा सीधे आदर्श की उच्चस्थल देवी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि-आदि का। इन सब स्थितियों में स्त्री की आत्मिक संवेदना कहीं नहीं थी। मनुष्य समझे जाने की कोशिश नहीं थी। अर्थात इन सभी विधानों में स्वयं स्त्री कहीं भी उपस्थित नहीं थी। पितृसत्ता-धर्मसत्ता की गठजोड़ ने अपने स्वार्थी विधानों में उन्हें सन्नद्ध किया। स्त्री-लेखन या स्त्रीवादी चिंतन प्रणाली, शिक्षा तथा वैश्विक अनुभवों-घटनाओं के प्रभाव से इन पौरुषिक धार्मिक छद्मों को और पुरुषवादी हिंसा को अपनी कविताओं, कहानियों, आत्मवृत्तों और विचारों के जरिए अनावृत्त करती हैं। सविता सिंह जेंडर और स्त्रीवादी आलोचना के प्रश्नों पर एक नयी बहस आरंभ करना चाहती हैं। उनकी कविताएं व आलोचना नवीन विचारों की उद्घोषक है।

सविता सिंह की कविताएं बौद्धिक चेतना से लैस कविताएं है। उनकी तमाम कविताएं अपने समय को निवेदित कविताएं है। स्त्री को हाशिए से केंद्र में लाने वाली सविता सिंह की कविताएं स्त्रीवादी विचारधारा की जमीन को मजबूत बनाती हैं। इसलिए उनकी कविताओं में विचार, तर्क तथा बौद्धिकता हावी रहती है। सामाजिक परिवर्तन व सामाजिक न्याय की आस लिए कवयित्री कई चरित्र प्रधान कविताएं रचती है। चरित्र प्रधान कविताओं की सूची लगभग सभी स्त्री-कवियों के यहाँ मिलती है। साधारण, असाधारण या वंचित समुदाय के कोई भी पात्र कविता का विषय बनते हैं। कवयित्री उस चरित्र के बहाने सम्पूर्ण स्त्री-जाति, पितृसत्ता तथा समकालीन मुद्दों से टकराती है। उनकी कविताओं में रात, नींद, सपने, प्रकाश, नीला रंग आदि

का बिंब आना इस बात का सूचक है कि कवयित्री कविता को महज शब्दों में अवरुद्ध नहीं करना चाहती है, बल्कि कविता को भिन्न-भिन्न कला-रूपों में प्रतिबिम्बित करना चाहती है। सविता सिंह लैंगिक राजनीति या समाज में जेंडर्ड स्ट्रक्चर को भाषा के जरिए ही मात देना चाहती हैं। इसलिए वे सामान्य स्त्री-चरित्र को चुनती है। यहाँ चरित्र से आशय वैयक्तिक पहचान से है। कविताओं में उन चरित्रों के नाम तक आते हैं जो उस वर्ग की पहचान व प्रतिधित्व के सूचक हैं। 'रोती है सुप्रिया', 'विमला की यात्रा', 'मेरी सखी ललिता', 'शिल्पी ने कहा', 'कुसुम का सत्याग्रह', 'याद रखना नीता', 'सारा का सुंदर बदन', 'रोज़मरी एक अच्छी लड़की है', 'रूथ का सपना' आदि कविताएं जिस नैरेटिव को रचती हैं, वह स्त्री के वैचारिक आधार को एक नयी दृष्टि देती है। बदलती हुई स्थितियों में सामान्य चरित्रों की मनःस्थितियों का बदलना आदि मौजूदा समय में अप्रत्याशित परिवर्तनशील समय का द्योतक है।

चरित्र प्रधान कविताओं के अतिरिक्त सविता सिंह की काव्य-सर्जना प्रेम और प्रकृति को भी अपने चिंतन के दायरे में लाती है। प्रेम में हिंसा वृत्ति को कवयित्री सूक्ष्मता से उद्घाटित करती है क्योंकि पुरुष-सत्ता स्त्री को अपना गुलाम बनाए रखने के लिए प्रेम का इस्तेमाल एक औज़ार के रूप में करती रही है। स्त्री के सच को कवितामय रूप देना या स्त्री के सच को राजनीतिक मुद्दा बनाना कवयित्री भलीभाँति जानती है। 'स्त्री सच है' कविता इसका प्रमाण है। सविता सिंह के यहाँ कविता, राजनीति और रणनीति का स्त्रीकरण और स्त्री का, स्त्री के सच के सच का, उस राजनीति का कविताकरण भी है। दरअसल कवयित्री अपने समय की स्त्री संदर्भित व मनुष्य संदर्भित सभी समस्याओं को सभ्यता के विमर्श के तौर पर देखती है और वैचारिक स्तर पर उनका निदान चाहती है। प्रकृति और कविता उनके अनुषंगी है जो उनके साथ-साथ चलती है। प्रकृति की विभिन्न तरंगों और कविता विधा पर उनकी कई कविताएं हैं जैसे प्रकृति और कविता कोई संज्ञा हो या भरा-पूरा मनुष्य। 'जंगल के पेड़', 'मौसम', 'सफ़ेद तितली', 'काली तितली', 'दो फूल' और 'कविता का जीवन', 'कृतज्ञ हूँ मेरी कविता', 'कहाँ लिए जा

रही हो मुझे मेरी कविता', 'नीला विस्तार' आदि कविताएं प्रकृति और कविता की अंतर्लय को अभिव्यक्त करती हैं। अर्थात कविता स्वयं ही एक विचार बनकर अपना स्वरूप ग्रहण करती है। कविता पर भरोसा इतना कि उसी के सहारे कवयित्री सभ्यता के हर चेहरे को देख लेती है और स्वयं को भी "इतने वर्षों बाद भी मेरी कविताएं अचंभित नहीं होंगी / तब भी उन्हें यह संसार अनुपम ही लगेगा / अपनी क्रूरता में / तब भी वे ढूँढ़ेंगी प्रेम और सहिष्णुता ही इस संसार में।"[86] या "कृतज्ञ हूँ मेरी कविता / कि जी सकती हूँ अपना सौंदर्य तुममें / कृतज्ञ हूँ कि तुम मुझे जानती हो जैसे मैं हूँ / अपनी देह और आत्मा में एक जैसी।"[87] कवयित्री और कविता के बीच एक नैसर्गिक अंतरलीनता है। स्त्री-कविता की शक्ति है कि वह कविता में अपने अक्स को स्कैच करती है। कविता हमराज़ बनती है। कवयित्री का कविता के साथ इस सत्संगति का कारण भी पितृसत्ताकीलित संरचना का ही प्रतिपक्ष है। एक सखी भाव की तरह कविता परिवर्तन की आस लिए आगे बढ़ती है। कवयित्री का अनुभव-संसार इन्हीं कामनाओं से भरा-पूरा है। वह इस भावना को ही संवेदीकृत करती है लेकिन जहां सवाल सामाजिक न्याय व परिवर्तन का आता है, वहाँ कविता का स्वर बदल जाता है।

रंजना जाएसवाल की कविता स्त्री के वजूद को परिभाषित करती है। 'स्त्री' शब्द के व्यापक निहितार्थों को समेटे हुए कवयित्री सभ्यता के विभिन्न स्त्री-संबंधी साक्ष्यों को स्त्रीवादी नज़रिये से देखती है। परंपरा प्रदत्त स्त्री की भूमिकाओं व पितृसत्ता से पराधीन हो चुके स्त्री-जीवन के यथार्थ को नए दृष्टिकोण से देखती है। स्त्री-जीवन के संदर्भ में रंजना का तेवर जितना तल्ख है, प्रेम और प्रकृति की भावभूमि पर वे उतना ही कोमल हो उठती हैं। अब तक उनके आठ संग्रह आ चुके हैं। सभी संग्रह की कविताएं निरंतर युगीन यथार्थ को स्त्री के नज़रिये से बौद्धिक संवाद करती दिखती हैं। एक सामान्य विचार के साथ उनकी कविता का आरंभ होता है और उसे कवयित्री विशेषीकृत रूप देती है। 'मछलियाँ देखती हैं सपने', 'दुख-पतंग' और 'ज़िंदगी के कागज पर' की छोटी-बड़ी कविताएं कविता की दुनिया में स्त्री-मन और उसकी उत्सुकता

को गहरी मार्मिकता में बदलने की पहल हैं। विषय और भाषा सरल, सपाट होने पर भी कविता में अंतर्भुक्त स्त्री-संवेदना के नए तंतुओं को सामाजिक पहचान देने की ललक औदात्य रूप में दिखती है। असुरक्षा, हिंसाविह्वल वातावरण में स्त्री की नियति का सवाल बार-बार कवयित्री उठाती है। सवर्णवादी और वर्चस्ववादी मानसिकता के घृणित खेल के खिलाफ वह अकेली संघर्ष की बुनियाद रखती है। सामाजिक संरचना में स्त्री की नवीन उपस्थिति की अहिवात कवयित्री निरंतर लिखती है।

'जब मैं स्त्री हूँ', 'आरुषि', 'मधुमिता', 'बच्ची की फरियाद', 'कुंती', 'माधवी', 'चाची', 'युवा संन्यासिनी को देखकर', 'कल्पना के बहाने', 'अग्नि-तेज' आदि कविता में स्निग्ध स्त्री-दृष्टि कविता के अर्थ को नवीन आयामों से जोड़ती है और कविता को प्रासंगिक बनाती है। 'जब मैं स्त्री हूँ' कविता का पूरा ताना-बाना मिथक, इतिहास, वर्तमान की पुरुषवादी रूढ़ मान्यताओं का शव-परीक्षण है "मैं स्त्री हूँ और जब मैं स्त्री हूँ / तो मुझे दिखना भी चाहिए स्त्री की तरह / मसलन मेरे केश लंबे, / स्तन पुष्ट और कटि क्षीण हो / देह हो तुली इतनी कि इंच कम न छटांक ज्यादा / बिल्कुल खूबसूरत डस्टबिन की तरह जिसमें / डाल सकें / देह, मन, दिमाग का सारा कचरा और वह / मुस्कुराता रहे – 'प्लीज़ यूज मी'।"[88] पुरुषसत्तात्मक सभ्यता स्त्री को 'खूबसूरत डस्टबिन' के रूप में ही उपभोग करती आई है। जब चाहा उपभोग किया, जब चाहा फेंक दिया। 'जब मैं स्त्री हूँ' संग्रह की सभी कविताएं स्त्री-कविता की वैचारिक आधार निर्मिति में महती योग देती हैं। कवयित्री के आत्मवृत्तों में युग-युगांतर की स्त्रियों की पीड़ा एकबारगी से ध्वनित होती है। विश्व-चेतना से उद्बुद्ध कवयित्री की निगाह से कुछ भी छूटना मुश्किल है। नयी स्त्री को स्त्री-देह का कोमोडिफिकेशन मंजूर नहीं। देह से नहीं दिमाग से पहचाने जाने की कवायद अर्थात वैचारिक पहचान की उम्मीद है रंजना जायसवाल की कविताएं। स्त्री के लिए तयशुदा पुरुषवादी मानक अब स्त्रियों को कैद नहीं रख सकता। अपनी आवाज़, अपनी

स्वतंत्र चेतना द्वारा ही वे अपना मानक स्वयं बनाएंगी। स्त्रीत्व को देह में कैद कर देने की पुरुषवादी ग्रंथियों से अब स्त्रियाँ मुक्त होना चाहती हैं।

'सिर्फ कागज पर नहीं' और 'क्रान्ति है प्रेम' की कविताएं भी स्त्री की गहनतर पीड़ाओं के प्रतिकार की कविताएं हैं। 'क्रान्ति है प्रेम' में प्रेम का मानवीय रूप कवयित्री के आशावादी नज़रिये का परिचायक है। रोज़मर्रे की ज़िंदगी से कविता को रचना और प्रकृति के साथ उनका तादात्म्य बैठाना कवयित्री की रचनाधर्मिता के मुख्य अंग हैं। उनके आदर्श लोक की पहली सीढ़ी ही यथार्थ की समीक्षा करना है, यथार्थ का विश्लेषण करना है। 'स्त्री का अर्थ' कवयित्री के लिए व्यापक है, वह सृष्टि का पर्याय है। अतः उनके काव्य-लोक को एक नयी काव्य-दृष्टि से आंकना होगा। उनकी कविता में निहित सहज रचाव, लोक में फैले भ्रमों का निवारण और अनुभूति की प्रामाणिकता आदि उन्हें अपने समकालीनों से अलग करती है। स्त्री-कविता की सबसे बड़ी ताकत है प्रेम की रचनात्मक अभिव्यक्ति। पितृसत्ता और वर्चस्व से लड़ाई का हथियार स्त्री-भाषा और प्रेम की प्रगाढ़ अभिव्यक्ति ही हो सकती है। कवयित्री रंजना जाएसवाल ने अपनी कविता को ही प्रेम का पर्याय बनाया है। यहाँ प्रेम ही संघर्ष और परिवर्तन का औज़ार बनते दिखता है। जीव-जगत का मूक-अमूक ऐसा कोई प्राणी नहीं जो प्रेम की आकांक्षा में बंधना नहीं चाहता है। इसलिए प्रेम सदैव मनुष्य को जोड़ने वाले महीन धागे के रूप में काम्य बना रहता है। स्त्री-कवियों ने प्रेम की जड़ परिभाषाओं से अलग उसे एक उन्मुक्तता दी है। रंजना का कवित्व प्रेम की अभिलाषा लिए ही आगे बढ़ता है।

स्त्री-कविता अपने समकालीन चुनौतियों को जहां एक ओर स्त्री-दृष्टि से देखती-समझती है, वहीं दूसरी ओर वह मानवता के धरातल पर वैश्विक बंधुत्व की हिमायत भी करती दिखती है। इसलिए जब भी स्त्री-कविता में विचारधारा का प्रश्न आएगा तो कोई एक दर्शन या सिद्धांत कतई हावी नहीं हो सकता है। 'कहीं का रोड़ा, कहीं का तिनका, भानुमति ने कुनबा जोड़ा' के दर्शन की तरह वहाँ सब आपस में घुलेमिले एक नए रस, एक सर्वसमावेशी विचारधारा की नींव

बनती दिखती है। घुलनशीलता, सम्मिश्रण या मिलावट हमेशा हानिकर ही नहीं होती है, कई बार वह संगम रूप में, खिचड़ी की भांति पौष्टिक और स्वास्थ्यवर्धक भी होती है। स्त्री-कविता में विचारों का संगम कुछ इन्हीं रूपों में अभिव्यक्त होता है। सहज, सरल दिखने वाली इन कविताओं की गहराई तभी मापी जा सकती है, जब स्त्री-जीवन को उन्हीं की दृष्टि, उन्हीं की परिस्थितियों में समझा जाए। प्रकृति, जीव-जगत, मूक प्राणी आदि सभी इसी भाव-संवेदना पर अवलंबित हैं। अनीता वर्मा की 'सरलता' शीर्षक कविता में इस सरलता की गहराई को देखा जा सकता है। वह साधारण काव्य-बिंब जीवन की गहनता को, अदीखे परतों को पंक्तिबद्ध करता है "हवा और पानी सरल हैं / जब तक सांस और प्यास नहीं बन जाते / और मनुष्य के रुदन को कैसे देखा जाए / वह सिर्फ आँसू नहीं है / उसमें हर बार नए सिरे से दिखता है एक पूरा जीवन / फूल और फल सरल हैं / लेकिन कितनी गहराइयाँ लाँघकर वे आए हैं ऊपर।"[89] इस विस्मयकारी पक्ष को उद्घाटित करना ही स्त्री-कविता की कसौटी है। हवा, पानी, फल, फूल आदि की सरलता जितनी दिखने में सरल है, उसकी निर्मिति उतनी ही गझिन रूप में होती है। स्त्री-जीवन की सरलता भी ठीक उसी रूप में दिखती है। अनीता वर्मा विरल संवेदना की कवयित्री हैं। अतः उनका वैचारिक आधार भी विरलता से सरलता की ओर उन्मुख होता है। प्रकृति, जीव-जगत तथा समकालीन मुद्दे, बाजार, उपभोक्तावादी संस्कृति, विज्ञापन, सूचनाक्रान्ति आदि से पनप रहे अवसाद-विषाद को काव्यबोध और जीवनबोध के माध्यम से नया अर्थ देती है। हालांकि अनीता वर्मा के यहाँ विचार प्रधान कविताओं की मात्रा कम है, बावजूद इसके वह कविता को विचार लोक में ले जाती है। भाषा और शैली की गंभीरता उनमें आरंभ से अंत तक बनी रहती है। कविता में स्त्री-व्यक्तित्व का एक मननशील पक्ष हमेशा मौजूद रहता है जो कविता की प्रकृति को अलंकृत होने से बचाता है।

स्त्री-कविता के वैचारिक आधार को दलित स्त्रीवाद ने एक मजबूत आधार दिया है। दलित स्त्रीवाद की प्रखर कवयित्री रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी 'मीनू' आदि की

कविताएं दलित स्त्रीवाद की अवधारणा को पुष्ट करती हैं। आत्मकथात्मक शैली में रचित अधिकांश कविताएं दलित स्त्री के पारिवारिक, सामाजिक तथा जातिगत संघर्ष की मुखर अभिव्यक्ति है। दलित स्त्री-कवियों की कविताओं में उनके सामाजिक आइकॉन अनायास ही आते-जाते हैं। मिथकों के स्थान पर ऐतिहासिक-सामाजिक संघर्ष के प्रणेताओं-चिंतकों को अपना अग्रदूत मानना यह दर्शाता है कि वे अपने समाज और सामान्य जन के प्रति कितना सचेत हैं। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी 'मीनू' तथा अन्य दलित स्त्री-कवियों ने बुद्ध, कबीर, रैदास, ज्योतिबा-साबित्रीबाई फुले, अंबेडकर, अछूतानंद, पेरियार, अय्यनकारी आदि की विचारधारा को ही कविताओं के जरिए आगे बढ़ाया है। अपने समय की जातिवादी, हिन्दुत्ववादी अथवा साम्प्रदायिक शक्तियों से लड़ने के औजार इन्हीं चिंतकों के चिंतन में शामिल है। दलित स्त्री की पीड़ा और अस्मिता की पहचान, उनके अनुभूतित यथार्थ में निहित ललकार-फटकार ने कविता के शिल्प और विषय वस्तु को बिल्कुल मोनोटोनियस रूप दिया है। अर्थात कविता में एक-सा-पन या एक ही लय बार-बार आती है और यह कविता की दुर्बलता न होकर सामाजिक विषमता का आख्यान बनती है। रजनी तिलक की काव्य प्रतिबद्धता दलित समाज की स्त्रियों के साथ-साथ तथाकथित मुख्यधारायी समाज की स्त्रियों के प्रति भी संवादधर्मी और परिवर्तनकामी रही है। सामाजिक-आर्थिक आज़ादी की बात हो या न्याय और अवसर की, कवयित्री संघर्ष की चेतना को ही अपना मूलमंत्र मानती है। ब्राह्मणवादी आडंबरों पर कुठाराघात, अछूत समझे जाने की उनकी हिंसात्मक घृणा नीति, अवसरवादी सत्तालोलुपता पर रजनी के तीखे प्रहार ब्राह्मणवादी-सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त व्यक्तियों में तिलमिलाहट पैदा करती हैं। अन्याय और अपमान की पीड़ा के प्रति विद्रोह का भाव जब कविता का रूप लेती है तब वह हृदय को भेदती है और सभ्यता-संस्कृति पर सैकड़ों प्रश्न उठाती हैं : "आज जब अखबारें देती हैं खबरें / हमारी अस्मिता लुट जाने की / बर्बरता और घिनौनी चश्मदीद / घटनाओं की / खून खौल क्यूँ नहीं उठता हमारी / सफ़ेदपोशी में ढँकते-ढाँपते / हम

मुर्दा हो चले हैं। / खाक होना है एक दिन सबको / फिर आज ही लड़कर / खाक क्यों नहीं होते?"[90] और "न पुष्प है, न भाव / मानवता का अभाव / कब समझेंगे कला-मर्मज्ञ / कहने को उच्च-महाविद्वान / अधूरा ज्ञान, / बेईमान / कला कला के लिए कहने वाले / कैसे करेंगे / जीवन से जुड़े कला की पहचान?"[91]

कला-साहित्य के क्षेत्र में कल्पना, रम्यता और शृंगारिकता आदि के आग्रही सामाजिक यथार्थ और दलित समाज की यातना-प्रताड़ना-हिंसा को समझने की योग्यता खो चुके हैं। 'कला कला के लिए' नारा देने वाले कलमघसीट समाज और तथाकथित सभ्य लोगों की क्रूरता को विद्वता से छिपाने की कोशिश करते हैं। दोहरे हाशियाकरण की शिकार स्त्री की सामाजिक स्थिति पर रजनी तिलक और सुशीला टाकभौरे की उपरोक्त पंक्तियाँ जागरूकता का अभियान छेड़ती हैं। सवर्ण समाज के दोहरे चरित्र के प्रति कवयित्री का आक्रोश भाव यूं ही नहीं फूटता। गरीबी और बदहाली की स्थिति में भी सवर्ण समाज जब दलित समाज की स्त्रियों को अपनी वासना का शिकार बनाता है तब उसी सभ्य समाज की स्त्रियाँ मूकदर्शक बनी रहती हैं। प्रतिकार या प्रतिरोध की एक आवाज तक नहीं उठती, जबकि वह स्वयं भी इस अपमान और हिंसा की शिकार होती हैं। दलित स्त्री-जीवन के जितने भी बिंब इन दोनों कवयित्रियों की कविताओं में मिलते हैं वे जीती-जागती पात्र हैं, घटनाएँ हैं। पुरुष समाज को निवेदित उनकी कविता 'तुमने उसे कब पहचाना' एक ऐसा प्रश्न है जो स्त्री के सैकड़ों वर्षों के बलिदान को अभिव्यक्त करता है। स्वामी और सेवक का असमान-अपमानजनित बंधन स्त्री के लिए ही क्यों? किस अर्थ में स्वामी? और क्यों? महज पुरुष होने मात्र से कोई स्वामी कैसे कहला सकता है। इन सवालों के साथ ही जातिगत विद्वेष की मानसिकता पर दलित स्त्रीवाद बहस चलाता है। विद्वेष की कुत्सित ग्रंथियां बनती कैसे हैं? कैसे कोई जीता-जागता मनुष्य अछूत, नीच या त्याज्य हो सकता है? कैसे कोई आम स्त्री अपवित्र, भोग्य, कुल्टा या अभद्र भाषा की शिकार बनती है। स्त्री-पुरुष के बीच, पुरुष-पुरुष के बीच, स्त्री-स्त्री के बीच जातिगत विद्वेष और घृणाभाव का स्रोत क्या है?

दुनिया का कोई भी तथाकथित धर्मग्रंथ स्त्री-व्यक्तित्व को क्यों इतनी जटिलताओं में बांधने को आतुर है? आदि-आदि इन तमाम सवालों से दलित स्त्रीवादी रचनाकार टकराती हैं और समता, न्याय, बंधुत्व की उम्मीद करती है। मिथकों के संसार और कर्मकांडी मान्यताएं स्त्री-जीवन को उजरती गुलाम और पिंजरे में कैद पशु की तरह दुर्बल, असहाय जीवन जीने के लिए अभिशप्त करती है। इन असहाय, अभिशप्त जीवन का संवेदनशील दस्तावेज़ है रजनी तिलक और सुशीला टाकभौरे की कविताएं। वह एकसाथ सामंतवाद, पूंजीवाद, ब्राह्मणवाद, पितृसत्ता एवं फ़ांसीवादी ताकतों से संघर्ष कर रही होती हैं। दलित वर्ग के साथ ही समूचे मानव-जगत को उसकी मानवीयता लौटाने की मार्मिक अभिव्यक्ति है दलित स्त्री-कविता।

दलित स्त्री-कवियों की विचारधारा की प्रतिबद्धता जितनी स्पष्ट है उतनी ही वह संवेदना के धरातल पर सबको साथ रखने और चलने की ज़िम्मेदारी का बोध भी देती चलती है। दलित स्त्री के दोहरे-तिहरे शोषण की बात देश की सर्वोच्च संस्था राष्ट्रीय महिला आयोग भी स्वीकार करती है। रेखा सेठी के अनुसार, "राष्ट्रीय महिला आयोग की एक रिपोर्ट के अनुसार दलित महिलाएं अमानवीय व्यवहार के कई रूप झेलती हैं। अपहरण, दैहिक शोषण, नंगा करके घुमाना, अभद्र भाषा जैसी अनेक स्थितियाँ उनके जीवन को और भी विकट कर देती हैं। दलित स्त्रियों के शोषण का बहुत बड़ा कारण यह भी है कि अपनी सत्ता या ताकत का आभास देने के लिए सवर्ण जातियों के पुरुष इन स्त्रियों को हथियार बनाते हैं। पूरे वर्ग को दंडित करने के लिए दलित स्त्रियों का दैहिक शोषण किया जाता है। इस घरेलू हिंसा, पारिवारिक दमन, उनकी अस्मिता व अस्तित्व – दोनों के लिए संकट खड़ा करते हैं।"[92] दलित स्त्री-कविता में इन अनुभवों की अभिव्यक्ति हो रही है।

वंचित समुदाय के दूसरे छोड़ पर आदिवासी जगत की पीड़ा भी उन्हीं के बीच से निकल रही है। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, वंदना टेटे, जसिन्ता केरकेट्टा आदि कवयित्रियों ने समकालीन हिंदी कविता को आदिवासियत से जोड़ा है। हाशिए का दंश

झेलती आदिवासी स्त्री हो या पुरुष, सत्ता संरचना ने इनके मूल निवासी होने की पहचान को उनसे छीन लिया है। आदिवासी समाज की पूरी संघर्ष-गाथा को इन कवयित्रियों ने मूर्त रूप दिया है। आदिवासी बोली, भाषा, संस्कृति के साथ-साथ प्रेम की व्यापकता का प्राकृतिक आभास आदिवासी स्त्री-कविता की पहचान है। आदिवासी स्त्री दलित स्त्री की तरह ही विभिन्न स्तरों पर दैहिक-शोषण का शिकार होती है। निर्मला पुतुल की स्त्री-केन्द्रित कविताओं का ग्राफ स्त्री-जीवन के अलग-अलग संदर्भों से होकर गुजरता है। आदिवासी स्त्री जितना यौन-शोषण से संतप्त है उतनी ही बेरोजगारी, भूख, अशिक्षा और पारिवारिक-सामाजिक अंधविश्वासों की भी जबर्दस्त शिकार है। 'विकास बनाम विस्थापन' की विद्रुप राजनीति आदिवासी समाज में सबसे अधिक एक स्त्री को ही भुगतना पड़ रहा है।

निर्मला पुतुल की कविताओं में व्यक्त पारिवारिक-सामाजिक ब्यौरे वर्तमान समय के खुले दस्तावेज़ हैं जो सरकारी आकड़ों में कभी दर्ज नहीं होते। पूंजीवादी सत्तारूढ़ की विनाशक नीतियाँ उनके घर-संसार और संसाधन को बर्बाद कर उन्हें मजदूर बनने और विस्थापित होने के लिए मजबूर करती हैं। झारखंड की लोक-संवेदना से पूरित उनकी कविताएं ऐसे विचारों का वहन करती हैं जो आदिवासी अस्मिता का कोलाज निर्मित करता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि आदिवासी साहित्य का जन्म ही प्रतिरोध की चेतना से हुआ है। अतः आदिवासी समाज की स्थिति-परिस्थिति, उनको केंद्र में रख होने वाली राजनीति और उनके अन्तर्मन की पीड़ा आदि को कवयित्री निर्मला पुतुल ने बड़ी सादगी से अपनी कविताओं में वर्णित किया है। उनके स्त्री-पात्र अपनी चुनौतियों की तफ़्तिश करते हुए कविताओं में सशक्त रूप से उभरते हैं। माँ, बाबा, बेटी, सहेली, प्रेमी, पति, समाज के अन्य पात्र, गाँव के मुखिया-सरपंच या प्रधान, गाँव की बूढ़ी अम्मा, कुछ और नामजद चरित्र पूरी संगीतमयता के साथ अपनी बात रखते हैं। उस संगीत में प्रेम भी है, प्रतिरोध भी है और जीने की उत्कट लालसा भी और संघर्ष करने के बीज भी। कुल मिलाकर देखा जाए तो एक भरा-पूरा समाज अपने आदिवासियत आलोक में ज्योतित

होता है। यह कवयित्री की बड़ी विशेषता है कि उनके चिंतन के केंद्र में समाज व सामाजिकता सर्वोपरि रूप में मौजूद है। सामाजिक हित ही व्यक्ति हित है, की भावना से स्फुरित है। यह सामाजिकता ही उन्हें पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ताकतों से जिरह करने की ताकत देती है। 'सद्दाम को फांसी के बाद' कविता इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

जल, जंगल, जमीन और जुबान के साथ वैश्विक साम्राज्यवादी हिंसक नीतियों के खिलाफ भी आवाज उठाना निर्मला पुतुल के कवित्व की मुखरता है। प्रत्येक घटना जो मनुष्यता को तार-तार करती है, कमजोर-वंचित-हाशियाकृत वर्ग का दमन करती है, वहाँ से विद्रोह गूंज उठता है "साम्राज्यवाद के दूतों / मत भूलों कि ऐसी कई आवाजें हैं / जो आज भी उठ रही हैं तुम्हारे खिलाफ़ / तुम कितनी आवाज़े बंद करोगे? / जितनी आवाज़ उतनी गर्दनें हैं / फांसी के लिए रस्सियाँ भी कम पड़ जाएंगी / एक दिन तुम्हारे पास।"[93] संघर्ष और क्रांति में विश्वास रखने वाली कवयित्री का आत्मविश्वास इस हद तक मजबूत है कि नयी पीढ़ी के खेल रहे बच्चों में भी वे क्रांति-चेतना का भविष्य देख लेती है। उन्हें विश्वास है 'धीरे-धीरे' ही सही इस क्रूर, असमान व्यवस्था का प्रतिकार यहीं से उठेगा "यह जो गलियों में खेल रहे हैं बच्चे हमारी बस्ती के / एक दिन बड़े होंगे / और कुछ न कुछ तो निकलेंगे ही ऐसे / जो दौड़ेंगे समय की रफ्तार से भी तेज / अपने समय की बहती बयार के खिलाफ़ / अक्सर चुप रहने वाला आदमी / कभी न कभी बोलेगा जरूर सिर उठाकर / चुप्पी टूटेगी एक दिन धीरे-धीरे उसकी / धीरे-धीरे सख्त होंगे उसके इरादे / और तनेंगी मुट्ठियाँ आकाश में व्यवस्था के खिलाफ़ / भीतर ईज़ाद करते कई-कई खतरनाक शस्त्र।"[94] यह आदिवासी स्त्री-कविता का राष्ट्रीय स्वर है जो आमूल परिवर्तन के लिए अपनी मुट्ठी ताने आगे बढ़ रहा है।

निर्मला पुतुल की कई कविताएं धधकती हुई आग की भाँति शब्दों-वाक्यों को हवा में उछालती हैं। युवा जोश और सख्त इरादों के साथ जो कि कमजोर, लड़खड़ाते हुए आदमी में भी अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए ऊर्जा भर दें। कविता में विद्रोह और क्रान्ति की गूंज उनकी

वैचारिक पक्षधरता को अलग रंग देती है। सत्ता-व्यवस्था के दमन या चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए कवयित्री का एक-एक शब्द लहू की बूंद की तरह प्रकंपित होता है। इस अर्थ में निर्मला पुतुल की कविता साहस, आत्मविश्वास और स्वाभिमान की कविता है। उनकी यह सामाजिक-राजनीतिक काव्य-दृष्टि ही आदिवासी स्त्री-कविता की और आदिवासी समाज के सचेत होने की दिशा तय कर रही है। अपनी अस्मिता-अस्तित्व और पहचान को स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं को जाने-पहचाने, अपनी सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विरासत की पहचान करें। इसके अभाव में वह समाज हमेशा दूसरों द्वारा छला जाएगा। जैसा कि विगत तीन-चार दशकों से आदिवासी समाज के साथ हो रहा है। अतः कवयित्री अपने समाज को, स्वयं को जानने-पहचानने के लिए प्रेरित करती है। 'वे नहीं जानते' कविता का कथ्य और संदेश इसी बात को संचारित करता है। अपने समाज के लिए नयी उम्मीद, नयी दिशाएँ और नए विचार लिए उनकी कविता नए युग के आगमन की कामना में संघर्षरत है। आक्रोश, विद्रोह और क्रान्ति द्वारा ही वह नया युग निर्मित होगा।

उपरोक्त विवेचन-विश्लेषण स्त्री-कविता की वैचारिकी की आधारशिला है। आमूल परिवर्तन की आस, स्त्री-पुरुष संबंधों में नयी ऊष्मा, वर्ग, वर्ण, जाति, नस्लविहीन सुंदर समतामूलक समाज की परिकल्पना और पूंजीवादी साम्राज्यवादी-अलगाववादी ताकतों को चिन्हित करना आदि इसके मूल लक्ष्य हैं। स्त्री-कविता की वैचारिक प्रतिबद्धता जितनी स्त्री के प्रति है, उससे अधिक स्वस्थ समाज के निर्माण की कामना में है। समाज के विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों से उभर रहे सवालों को स्त्री-कवियों ने जिस मातृमना स्त्री-दृष्टि से अपनी कविताओं में उठाया है, वह अपने-आप में एक विचार शृंखला की कड़ी को निर्मित कर रहा है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और वैश्विक संदर्भों पर स्त्री-कवियों की चिंता समस्या-निदान हेतु अलग तरह की दृष्टि का परिचय देती है। स्त्रीवाद की सैद्धांतिकी और सार्वभौम बहनापा का भाव उसी उपक्रम का हिस्सा है। भौगोलिक सीमाओं को तोड़ते हुए भावनागत भाव से पूरे विश्व जन-

समुदाय को निवेदित है स्त्री-कविता का संदेश। पितृसत्ता, पूंजीवादी व्यवस्था और महाशक्ति बनने के दंभ ने पूरी मानवता को भयाक्रांत कर रखा है, ऐसे में पूरे विश्व की स्त्री-शक्ति का एकजुट होकर सांगठनिक प्रतिरोध आवश्यक है। प्रेम, शांति और मैत्री ही विश्व मानवता को संजोए रख सकती है। विश्व भर की स्त्री-कवियों ने जिस भाषा और विचार को प्रस्तुत किया है, वह दुनिया के हिंसाविह्वल वातावरण को भेदता हुआ मैत्री और प्रेम का संदेश देता है।

संदर्भ :

[1] सिंह, नमिता (प्रथम संस्करण : 2017). *स्त्री-प्रश्न*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 15

[2] वंशी, बलदेव (आवृत्ति : 2017). *भारतीय नारी संत परंपरा*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[3] राजे, सुमन (दूसरा संस्करण : 2015). *इतिहास में स्त्री*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 17-18

[4] राजे, सुमन (दूसरा संस्करण : 2015). *इतिहास में स्त्री*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 228

[5] राजे, सुमन (पहला संस्करण : 2003). *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 246

[6] शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र (पुनर्मुद्रण : 2013). *हिंदी साहित्य का इतिहास*, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ. 428

[7] राजे, सुमन (पहला संस्करण : 2003). *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 246

[8] राजे, सुमन (पहला संस्करण : 2003). *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 228

[9] सिंह, नामवर (इक्कीसवाँ संस्करण : 2019). *छायावाद*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 49

[10] सिंह, नामवर (नवीन संस्करण : 2013). *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*, इलाहाबाद : लोकभरती प्रकाशन, पृ. 34

[11] शोभाकांत (संपा.) (2003). नागार्जुन रचनावली (भाग दो), नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 238

[12] सिंह, नामवर (नवीन संस्करण : 2013). *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ. 107

[13] अज्ञेय (प्रथम वृत्ति : 1986). *इत्यलम् 'अज्ञेय' की संग्रहीत कविताएं*, दिल्ली : प्रतीक प्रकाशन केंद्र, पृ. 154

[14] सिंह, नामवर (नवीन संस्करण : 2013). *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ. 110

[15] सिंह, शमशेर बहादुर (प्रथम संस्करण : 1988). *काल तुझसे होड़ है मेरी*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 64

[16] सिंह, शमशेर बहादुर (आवृत्ति : 1997). *टूटी हुई बिखरी हुई*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 156

[17] त्रिपाठी, आशीष. (संपा.) (पहला छात्र संस्करण : 2016). *कविता की जमीन और जमीन की कविता*.नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 166

[18] तिवारी, विश्वनाथप्रसाद (पुनर्मूद्रित संस्करण : 2018). *समकालीन हिन्दी कविता*, इलाहाबाद.लोकभारती प्रकाशन, पृ. 168-169

[19] सहाय, रघुवीर (पहली आवृत्ति : 2014). *आत्महत्या के विरुद्ध*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 49

[20] वही, पृ. 86

[21] वही, पृ. 48

[22] वही, पृ. 76

[23] सहाय, रघुवीर (द्वितीय पेपरबैक संस्करण : फरवरी, 1987). *हँसो-हँसो जल्दी हँसो*, नोएडा : नेशनल पेपरबैक्स, पृ. 13

[24] मेहता, श्रीनरेश (द्वितीय संस्करण : 2005). *समिधा खण्ड-2*, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ. 123

[25] तिवारी, विश्वनाथप्रसाद (पुनर्मूद्रित संस्करण : 2018). *समकालीन हिन्दी कविता*, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, पृ. 136

[26] बांदिवडेकर, चन्द्रकान्त (संपा.) (द्वितीय संस्करण : 2007). *धर्मवीर भारती ग्रंथावली खण्ड : 3*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 38

[27] अनामिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *बीसवीं सदी का हिंदी महिला लेखन : खंड-2,* नयी दिल्ली : साहित्य अकादमी, पृ. 20

[28] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2018). *अँधेरे में बुद्ध*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 87

[29] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *यह आकांक्षा समय नहीं,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 64

[30] राजे, सुमन (पहला संस्करण : 2003). *हिंदी साहित्य का आधा इतिहास*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 227

[31] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पहचान और द्वंद्व*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 67

[32] अनामिका (पहला संस्करण : 2015). *टोकरी में दिगंत थेरी गाथा : 2014*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 47

[33] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *दूब-धान*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 26

[34] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 15

[35] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 76

[36] वही, पृ. 97

[37] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *एक दिन लौटेगी लड़की*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 25

[38] रघुवंशी, नीलेश (पेपरबैक संस्करण : 2009). *घर निकासी*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 69

[39] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 59-70

[40] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[41] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 22

[42] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 59-60

[43] वही, पृ. 94

[44] शंभुनाथ (संपा) (प्रथम संस्करन : 2019) *हिंदी साहित्य ज्ञानकोश-6*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 3640

[45] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 86

[46] अनामिका (तीसरा संस्करण : 2009). *खुरदुरी हथेलियाँ*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 15

[47] वही, पृ. 15-16

[48] अनामिका (तीसरा संस्करण : 2009).*खुरदुरी हथेलियाँ*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 22

[49] अनामिका (पहला संस्करण : 2012). *स्वाधीनता का स्त्री-पक्ष*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 29

[50] कात्यायनी (दूसरा संस्करण : जनवरी, 2008). *इस पौरुषपूर्ण समय में*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 63

[51] कात्यायनी (दूसरा संस्करण : जनवरी, 2008). *इस पौरुषपूर्ण समय में*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 64

52 रघुवंशी, नीलेश (पहला सजिल्द संस्करण : 2017). *खिड़की खुलने के बाद,* नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 57

53 रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 42

[54] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 71

[55] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2018). *मैं जब तक आयी बाहर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 147

[56] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, नयी दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 42

[57] वही, पृ. 42

[58] वही, पृ. 41

[59] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, नयी दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 40-41

[60] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िंदगी के कागज पर*, नयी दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 41-42

[61] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014), *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 83

[62] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खरे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 76

[63] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 11

[64] 'मीनू', रजत रानी (प्रथम संस्करण : 2015). *पिता भी तो होते हैं माँ*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 176

[65] 'मीनू', रजत रानी (प्रथम संस्करण : 2015). *पिता भी तो होते हैं माँ*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 177

[66] टेटे, वंदना (पहला संस्करण : 2020). *वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौंदर्यबोध*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पृ.112-113

[67] टेटे, वंदना (संपा.) (पहला संस्करण : 2019). *कवि मन जनी मन आदिवासी स्त्री कविताएं*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 234

[68] टेटे, वंदना (पहला संस्करण : 2020). *वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौंदर्यबोध*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पृ. 109

[69] टेटे, वंदना (संपा.) (पहला संस्करण : 2019). *कवि मन जनी मन आदिवासी स्त्री कविताएं*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 41

[70] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 15

[71] पुतुल, निर्मला (प्रथम संस्करण : 2014). *बेघर सपने*, पंचकूला (हरियाणा) : आधार प्रकाशन, पृ. 65

[72] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 12

[73] मीणा, गंगा सहाय (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2014). *आदिवासी साहित्य विमर्श*, नयी दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिट्रिब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, पृ. 65

[74] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *एक कस्बाई लड़की की डायरी*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 103

[75] अनामिका (तीसरा संस्करण : 2019). *खुरदुरी हथेलियाँ*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 171

[76] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पहचान और द्वंद्व (पाठ और संवाद)*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 33

[77] गिल, गगन (प्रथम संस्करण : 2018). *जब तक मैं आयी बाहर*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 134

[78] कात्यायनी, (चौथा पुनर्मुद्रण : 2018). *दुर्ग द्वार पर दस्तक*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 86

[79] कात्यायनी, (चौथा पुनर्मुद्रण : 2018). *दुर्ग द्वार पर दस्तक*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 90

[80] कात्यायनी (पहला पुनर्मुद्रण : सितंबर 2019). *जादू नहीं कविता*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 102

[81] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संस्करण : 2008). *अंतिम पंक्ति में*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[82] वही, पृ. 68

[83] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संस्करण : 2008). *अंतिम पंक्ति में*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[84] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[85] स्त्री-कविता का सामाजिक स्वर और शुभा की कविता - आशुतोष कुमार – अनुनाद (http://www.anunad.com/)

[86] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 91

[87] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 92

[88] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2009). *जब मैं स्त्री हूँ*, दिल्ली : नयी किताब, पृ. 9

[89] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 32

[90] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 39

[91] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खारे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 72-73

[92] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 202-203

[93] पुतुल, निर्मला (प्रथम संस्करण : 2014). *बेघर सपने*, हरियाणा (पंचकूला) : आधार प्रकाशन, पृ. 55

[94] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 84-85